भारत-निर्माता

भारतीय सस्कृति और राष्ट्र के निर्माण मे योग देनेवाले
प्रतिनिधि महामानवो की गौरव-प्रशस्ति

[आधुनिक युग]

लेखक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

सम्पादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

"भारत सरकार की ओर से भेंट"

ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की
प्रमुख प्रकाशन-संस्था

५१, गुईन रोड, लखनऊ

प्रकाशक

हृदयेश्वर प्रसाद

हिन्दी विश्व-भारती

५१, गुईन रोड,

लखनऊ

चित्रकार

पन्नालाल

जुलाई, १९६३

मूल्य

रुपए ५·२५

मुद्रक

कामेश्वर दयाल

मुद्रण-कला-मंदिर

५१, गुईन रोड,

लखनऊ

विषयानुक्रम

राममोहनराय

अब हम अपनी लंबी कहानी के उस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर आ पहुँचे है, जहाँ उसका पूर्वार्द्ध समाप्त हो जाता है—हम अपनी मातृभूमि की इस गौरवगाथा के प्राचीन और मध्यकालीन महासर्ग का सीमान्त लाँघकर अब आ खडे हुए है अपने आज के ही युगद्वार पर ! तो फिर आइए, अतीत से विदा हो अब वर्त्तमान ही की ओर डग भरने की तैयारी करे।

हमारी शक्ति-कुण्डलिनी

हमने प्रागैतिहासिकना की धुँधली पृष्ठभूमि से आरभ कर लगभग आठ हजार वर्ष के दीर्घ अचल मे पसरी हुई इस देश की सास्कृतिक विकास-धारा का दिग्दर्शन पिछले प्रकरणो मे किया है, और हम यह देखकर चकित है कि रह-रहकर हमारे राष्ट्रीय जीवन मे चढाव के बाद उतार और वसन्त के बाद पतझड का चक्र विघूर्णित होना रहा है, किन्तु उसके कारण न तो हमारी प्राणवाही सस्कृति के इस अक्षुण्ण धाराप्रवाह का ही ताँता कभी टूटते पाया गया है, न इस पुण्य-भूमि की अन्तरात्मा के मौलिक स्वरूप ही मे कोई विषम अतर पडते दिखाई दिया है ! सच तो यह है कि बाहरी या भीतरी किसी भी प्रकार के व्यतीपातो के फलस्वरूप जब कभी भी इस महादेश के ऑगन में सकट की घडी आ खडी होती है, तब सदैव ही हमारी राष्ट्र-शक्ति की सोई हुई कुण्डलिनी किसी सचित पुण्य के प्रभाव से बिजली की तरह तडपकर जाग उठती है और कभी वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध और शकर जैसे महान् शिक्षको के रूप मे प्रकट होकर, तो कभी मनु, राम, कृष्ण, अशोक, विक्रम और शिवाजी जैसे कर्मयोगी लोकनायको का स्वरूप धारण कर, वह हमे उस आडे समय मे फिर से सजग और सशक्त बना जाती है ! अपने आज के युग मे प्रवेश करने पर भी हम इसी ऐतिहासिक सत्य की पुनरावृत्ति होते देखते है। कौन नही जानता कि अठारहवी शताब्दी के उस धूमिल सध्याकाल मे बीते युग की सधि-रेखा को लाँघकर जब हमने पहले-पहल वर्त्तमान की ओर पैर बढाया था, हम किस प्रकार अपनी प्राणशक्ति का सतुलन खोकर एक जराग्रस्त रोगाक्रान्त व्यक्ति की भाँति निश्चेष्ट भाव से परिस्थिति के ढलुवा मार्ग पर लुढकने लगे थे—हमारे पैर लड़खड़ा रहे थे और हमारी शक्ति के तार ढीले पड गए थे ! हमारी राज्यश्री तो श्रीहत हो

ही चुकी थी, साथ ही धर्म और समाज के क्षेत्र में भी हम अन्धरूढियो की जजीरो मे अपने आपको जकडकर केवल भूतकाल ही की ओर टकटकी बाँधे खड़े थे। हमारी वह साहित्य-वाटिका, जिसने कुछ ही समय पहले 'रामचरितमानस' जैसा अनूठा पुष्प प्रदान किया था, वीरान पडी थी, और हमारी वह कला की खान भी, जो अभी-अभी तक ताजमहल जैसे रत्नो को उपजाती रही, मानो बाँझ हो चली थी! हम हतप्रभ थे और एक नवागन्तुक आक्रमणकारी के हाथ न केवल अपना घर-आँगन ही गँवा बैठे थे, बल्कि उसकी भौतिक चमक-दमक से चौधियाकर अपने व्यक्तित्व का भी भान भूलते चले जा रहे थे! निस्सदेह हमारे लिए वह एक विषम सकट की घडी थी!

पुनरुज्जीवन का ज्वार

किन्तु यह सब कुछ हो रहा था फिर भी क्या, हमारे राष्ट्र के मूल तने मे तो अब भी उस प्राणदा सस्कृति का अमोघ जीवन-रस प्रवाहित हो रहा था, जो समय पाकर पुन. उसे हरा-भरा बना सकता था — केवल हमारे पुण्य-सस्कारो के फिर से एक बार जोर करने भर की देर थी। कहने की आवश्यकता नही कि शीघ्र ही वह नवजागरण का समय भी आया और इस देश के आँगन मे फिर से पुनरुज्जीवन का एक ज्वार-सा उमड पडा। पहले केवल धर्म और समाज के ही क्षेत्र मे नवचेतना की वह लहर उच्छ्वसित हुई। तब हमारी राष्ट्र-वीणा के अन्य तार भी झनझनाए और राममोहन-राय, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, आदि की युगवाणी के बाद दादाभाई, तिलक, गोखले, लाज-पतराय और गाधी आदि के नवसदेश का भी स्वर हिमालय से कन्याकुमारी तक गूँज उठा! साथ ही रवीन्द्र और अरविन्द के आर्षमत्र भी उद्-घोषित हुए और जवाहर तथा सुभाष जैसे अन्यतम राष्ट्रीय कुसुम खिल उठे! इस प्रकार आरभ हुआ नूतन उमगो की विद्युत्चेतना मे उल्लसित-ऊर्जित इस पुरातन राष्ट्र के पुनरुत्थान का वह महान् अनुष्ठान, जिसने हमारे इतिहास के एक नवीन पर्व का उद्घाटन कर दिया। यह सच है कि अभी हमारे राष्ट्रोद्यान मे इस नववसन्त का सुप्रभात पूरी तरह नही निखर पाया है—अब भी हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर अनेक काली घटाएँ अवशिष्ट है। किन्तु उषःकाल की इस आरभिक अरुणिमा के बाद निश्चय ही मध्याह्न की प्रखर किरणे भी प्रस्फु-टित होगी ही! क्या हमारे दिन-पर-दिन उमड़ते हुए सर्वतोमुखी जीवन-ज्वार की ऊर्म्मियाँ उस उज्ज्वल भविष्य ही की पूर्व-सूचना नही है?

पुनरोदय का अग्रदूत

जिस महान् व्यक्ति का परिचय अब हम पाने जा रहे है, वह था हमारे इस पुनर्जागरण का पहला अग्रदूत! न केवल इसलिए ही कि कालक्रम मे वह आधुनिक युग के हमारे सभी राष्ट्र-निर्माताओ से पहले अवतीर्ण हुआ, बल्कि अपने प्रखर व्यक्तित्व, असाधारण चरित्र और युगान्तरकारी विचारो के कारण भी आज के इतिहास के पन्ने उलटते समय सबसे पहले वही हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वही हमारी वर्त्तमान पीढी का पहला शिक्षागुरु और आज की जागृति का आध्यात्मिक पिता है। उसके ही हाथो हमे पहले-पहल इस नए युग की कुजी मिली। उसने हमारी प्रसुप्त चेतना के स्वर जगाकर फिर से हमे स्वतत्रतापूर्वक विचारने, विचरने और कार्य करने की सीख दी। साथ ही भुलाए हुए तहखानो मे से प्राचीन ज्ञान-निधि को उबारकर फिर से हमारे मन मे आत्मसम्मान का भाव जागरूक करने मे भी उसने प्रखर योग दिया।

हमारे सभी महान् युगस्रष्टाओ की भांति वह भी समन्वय और एकता का सदेश लेकर आया था। उसके मन मे कट्टरपथियो की-सी विचारसकीर्णता का लवलेश भी न था। उसका तो कहना था कि सारी मानव-जाति एक ही परम पिता के अधीन एक विशद परिवार के समान है और ससार के सभी महान् धर्म उसी एक परमात्मा की उपासना का निर्देश करते है। अपनी इस सार्वभौम उदार विचारधारा मे वह बहुत-कुछ हमारे उपनिषद्-कालीन तत्त्वचिन्तकों और मध्ययुग के सन्तो के समकक्ष था और उन्ही की भाँति एकेश्वरवाद की भित्ति पर प्रस्थापित एक उदार विश्व-धर्म का स्वप्न उसने अपनी आँखो में बसा रक्खा था। यद्यपि अन्य अनेक स्वप्न-द्रष्टाओं की तरह उसका भी यह सपना एक सीमा तक ही साकार बनकर रह गया—उसकी चरम सिद्धि न हो पाई, फिर भी इस देश को जो युग-दान वह दे गया, उसका प्रकाश चिर-काल तक हमारे इतिहास को आलोकित करता

रहेगा, इसमें किसे सदेह हो सकता है ? निश्चय ही जब कभी भी हमारी मातृभूमि की आत्मकथा के आधुनिक पर्व का प्रथम पृष्ठ खोलकर देखा जायगा, वहाँ पहली पक्ति मे सदैव उज्ज्वल अक्षरो मे अकित दिखाई देगा इस महान् युगस्रष्टा ही का नाम—'राममोहनराय !'

जन्म और शिक्षा-दीक्षा

अठारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्धकाल—आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व का युग ! भारत मे अग्रेजी साम्राज्य की नीव पड चुकी थी और पश्चिम की राजनीतिक सत्ता की प्रस्थापना के साथ-साथ उसकी सस्कृति की भी आँधी आकर इस देश के कलेवर को पहले-पहल झकझोरने लगी थी । हम अपने उतार की निम्नतम अवस्था मे थे और हमारे नवसर्जन की शक्ति एकदम शिथिल और निश्चेष्ट-सी पडी थी । हम एक अभूतपूर्व सास्कृतिक सकट की चिन्ताजनक दशा मे से गुजर रहे थे—यदि एक ओर हमारा कट्टरपन्थी जनवर्ग केवल धार्मिक कूपमण्डूकता और अध कुरीतियो के साथ चिपके रहने ही मे जीवन की सार्थकता समझकर किसी भी प्रकार के पुनर्संस्कार को स्वीकार न करने पर तुला बैठा था, तो दूसरी ओर क्रमश. ऐसा एक वर्ग भी हमारे समाज मे पैदा होने लगा था, जो अपनी निजी सस्कृति को हेय मानकर प्रत्येक बात मे पश्चिम ही की ओर सतृष्ण नेत्रो से निहारने और उसी के रग के अनुसार अपना रग बदलने की ओर प्रवृत्त हो रहा था । इसी अधकारपूर्ण वातावरण की डावाँडोल स्थिति मे, बगाल के एक छोटे-से गाँव राधानगर के एक ब्राह्मण जमीदार रामकान्तराय के घर, २२ मई सन् १७७२ ई० (अथवा किसी-किसी के मतानुसार १७७४ ई०) के दिन हमारे चरितनायक राममोहनराय का जन्म हुआ ।

उन दिनो का बगाल क्या था, मानो विविध बेमेल संस्कृतियो के घालमेल का एक अजीब नमूना था । इसका सबसे बढिया उदाहरण वहाँ के विभिन्न वर्गो पर अपना-अपना सिक्का जमाए बैठी उन विविध भाषाओ की कशमकश मे पाया जा सकता था, जो वहाँ प्रचलित हो रही थी । अभी-अभी वहाँ मुस्लिम नवाबी का अत और अग्रेजी सत्ता का दबदबा स्थापित हुआ था । अतएव जहाँ नवागन्तुक गोरे शासकों के निकट ससर्ग में आनेवाले कुछ लोग अग्रेजी बोली से ही काम लेने लगे थे, वहाँ शासन-तन्त्र के अधिकांश क्षेत्र मे फारसी-अरबी का ही आधिपत्य था—वहाँ अब भी मानो नवाबी ही का जमाना बना हुआ था ! इसी तरह जब कि जनसाधारण मे प्रान्तीय बोली बगला का ही प्रचलन था, वहाँ धर्म और पाण्डित्य के क्षेत्र में अब भी सस्कृत ही का प्रभुत्व प्रस्थापित था, जिसमे कि सारा हिन्दू धार्मिक साहित्य सुरक्षित है ! दैवयोग से हमारे चरितनायक का जन्म एक ऐसे परिवार मे हुआ, जिसमे पिछली पाँच पीढियो से लगातार राजकीय सपर्क रहने के कारण फारसी-अरबी ही का बोलबाला था । अतएव अपने कुटुब के वायुमडल के अनुसार उनकी आरभिक शिक्षा मातृभाषा बँगला के अलावा इन्ही दो भाषाओ की छत्रछाया मे हुई । वह बचपन से ही एक मौलवी के अधीन पढने को बिठाए गए और जब उसके हाथ से छूटे, तो उच्च शिक्षा के लिए पटना भेज दिए गए, जो उन दिनो फारसी-अरबी का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था ।

सूफी मत और उपनिषदों का प्रभाव

किन्तु जहाँ पितृपक्ष की ओर से उन्हे इस प्रकार अरबी-फारसी के मौलवियो के मकतबो मे बैठने को मिला, वहाँ मातृपक्ष की बदौलत सौभाग्य से सस्कृत का भी अध्ययन करने का उन्हे समुचित अवसर मिलता रहा । कारण, उनकी माता तारिणीदेवी एक ऐसे कुल से आई थी, जहाँ ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म और पूजा-पाठ की परम्परा जारी रहने के फलस्वरूप अब भी सस्कृत-विद्या के पठन-पाठन की परिपाटी प्रचलित थी । इसी दोहरे प्रभाव के कारण पटना मे फारसी-अरबी के काव्य, साहित्य, दर्शन और इस्लामी धर्मशास्त्र का अध्ययन कर चुकने पर, दो-ढाई वर्ष तक सस्कृत के महान् केन्द्र काशी मे विद्याभ्यास कर उन्होने वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि का भी मनोयोगपूर्वक अनुशीलन किया । इस बहुमुखी शिक्षा का एक सुफल यह हुआ कि आरम्भ ही से उनका दृष्टिकोण बहुत ही समुन्नत और विशद बन गया । वह सूफी रहस्यवाद तथा औपनिषदिक तत्त्वज्ञान की गहराई में पैठकर उस परम सत्य की झाँकी पा गए, जिसे जान लेने पर फिर विविध मत-मतान्तरो का बाह्याडबर एक थोथा ढकोसला-सा प्रतीत होने लगता है !

अतः जब पढ-लिखकर वह वापस घर आए, तो अपने उस प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण स्वभावतः ही उन्हे अपने परिवार और समाज में उग्र रूप से प्रचलित धार्मिक रूढिवाद, बहुदेवोपासना तथा मूर्ति-पूजा आदि बाते बेहद खटकने लगी। स्वभावतः इनकी पग-पग पर आलोचना करते हुए, उन्होंने अपने प्राचीन धर्म-ग्रथो के अनुसार खुलकर यह उद्घोषित करना आरम्भ किया कि धर्म का वास्तविक स्वरूप केवल एक ही अनिर्वचनीय अद्वितीय परमात्मा के अमूर्त रूप की आराधना करना ही है, बाकी सब निरा सप्रदायवादियो का जजाल है !

समाज से टक्कर :: घर-परिवार से निर्वासित

जरा सोचिए तो कि जो व्यक्ति पन्द्रह-सोलह वर्ष की अल्पायु ही मे इस प्रकार धर्म के जटिल प्रश्न पर एक रूढिवादी कट्टर समाज की उग्र आलोचना करने और उसे एक नया पाठ पढाने का साहस दिखा सकता हो, उसमे प्रतिभा और विचार-स्वातत्र्य के क्या-क्या बीज न छिपे होगे ? साथ ही अपने इन विद्रोही विचारो के मूल्य के रूप मे उसे उस समाज के हाथो क्या-क्या दड भी न भुगतना पडा होगा ? यद्यपि राममोहन के उन दिनो के जीवन-सग्राम का अधिक हाल उपलब्ध नही है, फिर भी इतना हम जानते है कि अपने इन उग्र विचारो के कारण उन्हे अत मे एक दिन अपना घर-द्वार तक छोड देने को विवश हो जाना पडा। उनकी न केवल समाज ही से बल्कि स्वय अपने परिवार से भी न पट सकी। वह लगभग चार वर्ष तक यहाँ से वहाँ भटकते हुए देश-विदेश की खाक छानते रहे। कहते है, ज्ञानार्जन की पिपासा से प्रेरित हो, इन्ही दिनो हिमालय की बर्फीली श्रेणियो को लाँघ वह तिब्बत के वर्जित प्रदेश का भी एक चक्कर लगा आए ! वहाँ बौद्ध मत के प्रचलित विकृत रूप के सम्बन्ध मे उनकी कटु आलोचना और एकेश्वरवाद के उनके सिद्धान्त से कुछ धर्मान्ध लामा पुरोहित इतने अधिक चिढ गए कि वे उनकी जान लेने पर ही उतारू हो गए ! कहते है, बडी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर वह वहाँ से भाग पाए और लौटकर वापस स्वदेश आए !

इस बीच पिता रामकान्तराय ने स्थान-स्थान में हरकारे भेजकर अपने इस विद्रोही पुत्र की गहरी खोज करवाई और जब उन्हे उसका पता लगा, तो बड़े आग्रहपूर्वक वापस घर बुलाकर उन्होने फिर से उसे गले लगा लिया। साथ ही यह सोचकर कि सभवतः गृहस्थी के मायाजाल मे उलझकर वह अपनी उन विद्रोही भावनाओ को सदा के लिए छोड़ दे, उन्होने उसका विवाह भी कर दिया। परन्तु युवक राममोहन के मन में जो क्रान्तिमूलक सुधारवादी प्रवृत्ति जड़ जमा चुकी थी, वह यो सहज ही में उखडनेवाली न थी। वह हिन्दू जाति का पूर्णतया पुनर्संस्कार कर उसे फिर से अपने प्राचीन आदर्श तक ऊँचा उठाने का स्वप्न मन ही मन देख रहे थे। अतएव ज्योही अवसर मिला, वह फिर से अपनी पुरानी आवाज बुलन्द करते हुए समाज के मैदान मे उतर पड़े। लोहे की चोट लोहे पर बजी और पुनः उनके शत्रु कट्टरपन्थियो ने उन्हे घर से निकलवाकर ही दम लिया !

पहली पुस्तक :: 'एकेश्वरवादियों को उपहार'

इधर भाग्य ने एक और बला उनके सिर मढ दी—उनके उसी वर्ष एक पुत्र पैदा हुआ। इस बला के कारण अपने साथ-साथ परिवार के भरण-पोषण की भी चिन्ता अब उनके सामने आ खडी हुई। किन्तु राममोहन इन सब आपदाओ से विचलित होनेवाले जीव न थे। उन्होने इस निर्वासनकाल मे भी ज्यो-का-त्यो अपना सग्राम जारी रक्खा और इन्ही दिनो मुर्शिदाबाद से अपनी वह प्रसिद्ध फारसी पुस्तिका—'तुहफतुलमुवहिद्दीन' (अथवा 'एकेश्वर-वादियो को उपहार')—प्रकाशित की, जो उनकी कृतियो मे सबसे प्रारभिक मानी जाती है।

इस छोटी-सी रचना द्वारा हमे राममोहनराय के धर्म-विषयक उदार दृष्टिकोण तथा उनकी एकेश्वर-वादी प्रस्थापना का बहुत-कुछ आभास मिल जाता है। साथ ही उसमे हमे उनके गहन पाडित्य, अकाट्य तर्क और सुलझे हुए मस्तिष्क की भी काफी झलक देखने को मिल सकती है। कहने की आवश्यकता नही कि इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से उनके और कट्टरपन्थी समाज के बीच की खाई और भी अधिक चौडी हो चली। परन्तु साथ ही साथ इस देश की उगती हुई नई पीढी पर क्रमशः उनका प्रभाव भी पडने लगा और अनेक सच्चे ज्ञानपिपासुओ का ध्यान उनके विचारो की ओर गहराई के साथ आकृष्ट होने लगा। यह राममोहन के जीवन के रचनात्मक पर्व का प्रथम अध्याय था।

इसके कुछ ही समय बाद अपनी आर्थिक उलझनो से छुटकारा पाने के उद्देश्य से राममोहन ने ईस्ट इडिया कपनी के अधीन रगपुर की कलक्टरी में नौकरी कर ली, और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल से वह एक साधारण क्लर्क की स्थिति से उठकर जिले की दीवानगिरी के ऊँचे पद तक पहुँच गए। इस बीच अग्रेजी के साथ-साथ लैटिन, ग्रीक और हीब्रू भाषा की भी जानकारी पाकर उन्होंने ईसाई धर्म का गहन अध्ययन करना आरभ किया। साथ ही जैन मत और तन्त्र-सप्रदाय के प्रमुख ग्रथों के अनुशीलन की ओर भी अपना हाथ बढाया। इसके अतिरिक्त पडितो से मिलकर रात-दिन धर्म के विभिन्न पहलुओ पर वाद-विवाद करने, अपने विचारो के प्रतिपादन के लिए बँगला और फारसी मे छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखने तथा वेदान्त-विषयक सस्कृत-ग्रथो के पठनीय महत्त्वपूर्ण अशो का अनुवाद प्रस्तुत करने का भी उनका कार्यक्रम लगातार जारी था। इस प्रकार जब सभी धर्मो और मत-मतान्तरो की विचारधाराओ के समुचित ज्ञान तथा अपने शेष जीवन को आर्थिक कठिनाइयो से मुक्त रखने के लिए आवश्यक सामग्री से वह सुसज्जित हो लिए, तब निश्चिन्त होकर अपना सारा समय लोकहित और जीवनादर्श की सिद्धि मे ही लगाने के उद्देश्य से उन्होने चालीस वर्ष की आयु मे अपने उस उच्च सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया !

यह उल्लेखनीय बात है कि अवकाश-ग्रहण के बाद राममोहन ने पुन. अपने पैतृक गाँव ही मे जाकर रहने का निश्चय किया, जहाँ उनके पिता तो अब नही रह गए थे, किन्तु माता अब भी विद्यमान थी। परन्तु राधानगर का दकियानूस समाज और स्वय उनका अपना परिवार उन्हे अब भी अपनाने को राजी न था! अतएव विवश हो उन्होंने कलकत्ते में अपर सर्कूलर रोड पर एक कोठी खरीद ली और १८१४ ई० के लगभग वही स्थायी रूप से अपना आसन जा जमाया।

जीवन का द्वितीय अध्याय :: 'आत्मीय सभा'

यही से उनके जीवन का दूसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय आरभ हुआ। अब उनके पास प्रचुर अवकाश था, धन भी था, और था लगभग तीस वर्ष के अध्यवसाय द्वारा कमाया गया ससार के प्रमुख धर्मों, दार्शनिक विचारधाराओं और पूर्व-पश्चिम की अनेक नई-पुरानी भाषाओ का प्रकाण्ड ज्ञान ! उन्हे अब कोई नई कमाई करने की आवश्यकता न थी, बल्कि अब तक सचित अपनी ज्ञान-निधि ही को वितरित कर देश की सोई हुई आत्मा को फिर से जगा देने ही का काम उनके सामने अवशेष था। इसके लिए कलकत्ते से अधिक उपयुक्त दूसरा कोई कार्यक्षेत्र भी नही हो सकता था, क्योकि भारत में अग्रेजी सत्ता की राजधानी होने के नाते वह उन दिनो पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का मानो प्रधान सगम-स्थल हो रहा था।

राममोहन ने देखा कि उन्ही की भाँति इस देश के पुनरुत्थान की कामना मन मे बसाए हुए कुछ ऐसे लोग भी समाज मे हैं, जो भारतीय जीवन को तत्कालीन निष्क्रियता के दलदल मे से निकालकर एक नवीन गति देने के लिए हृदय से उत्कठित है। किन्तु उपयुक्त नेतृत्व के अभाव मे वे कुछ कर-धर नही पा रहे है। अतएव कलकत्ते मे डेरा-तबू गाड़ते ही, सबसे पहले उन्होने इस प्रकार के उत्साही लोगों को एक ही सामान्य मच पर सगठित करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो 'आत्मीय सभा' के नाम से एक सुधारक सस्था की प्रस्थापना उन्होने की, जिसका लक्ष्य वेदो और उपनिषदो मे वर्णित एक ही अलख अगोचर ब्रह्म की उपासना करना घोषित किया गया। इसके अलावा, भारत की प्राचीन ज्ञान-गगा को सस्कृत की दुरूह घाटी से उतारकर जनक्षेत्र मे लाने के अभिप्राय से, उन्होने एक साथ ही बँगला और अग्रेजी मे उपनिषदो और वेदान्त-सूत्रो का अनुवाद भी प्रकाशित करना शुरू किया।

धर्मध्वजी पंडितों से संघर्ष

सबसे पहले १८१५ ई० मे वेदान्त-सूत्रो पर उनका एक ग्रथ बँगला मे प्रकाशित हुआ। तदुपरान्त दूसरे वर्ष उसके उर्दू और अग्रेजी सस्करण भी निकल आए, और तब क्रमश. केन, ईश, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य नामक उपनिषदो के भी अग्रेजी और बँगला अनुवाद उन्होने प्रस्तुत कर दिए। इन प्रकाशनो के एक के बाद एक धडाधड सामने आने और उनकी पाडित्यपूर्ण भूमिकाओ में राममोहन की लौह लेखनी द्वारा धर्म के बाह्याडम्बर मे उलझे हुए लोगों पर अनवरत प्रहार के फलस्वरूप, हिन्दू समाज के तथाकथित कर्णधारो का

दिल दहल उठा और उन्होने इस नए मोर्चे पर भी इस विद्रोही का सामना करने के लिए कमर बाँधना शुरू किया। सबसे पहले मद्रास के गवर्नमेण्ट कालेज के शकर शास्त्री नामक किसी अध्यापक ने दिसबर, १८१६ ई०, के 'मद्रास कूरियर' नामक अग्रेजी पत्र मे कटु आलोचना करते हुए उन पर आक्रमण किया, जिसका प्रत्युत्तर राममोहन ने 'ए डिफेन्स आफ हिन्दू थीइज्म' (अर्थात् 'हिन्दू आस्तिकवाद का मण्डन') शीर्षक अपनी सुप्रसिद्ध अग्रेजी रचना द्वारा दिया। इसके शीघ्र ही बाद मद्रास के पडितो का पक्ष लेते हुए स्वय उनके ही अपने प्रान्त बगाल के कई धर्मध्वजी गोस्वामी और भट्टाचार्य भी एक साथ ही उन पर टूट पडे। इस प्रकार मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना के पक्ष-विपक्ष मे वाद-विवाद का एक घोर सग्राम-सा छिड गया, जिसमे एक ओर थे अकेले राममोहनराय, जो अपने गहन शास्त्र-ज्ञान और अकाट्य तर्क के बल पर प्राचीन भारतीय धर्म के अनुसार केवल एक ही निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर हमारी धर्म-मदाकिनी मे बाद को उत्पन्न हो जानेवाली पकरूपी अध भावनाओ का खडन कर रहे थे, तो दूसरी ओर हर प्रकार के प्रगतिशील परिवर्तन की राह मे रोडा अटकाने के लिए उद्यत हमारा वह कट्टर अध समाज था, जिसकी एकमात्र युक्ति थी उन रूढियो की दुहाई देना, जो शास्त्रो से भी अधिक उनके मन पर अपना आधिपत्य जमाए हुए थी।

ईसाई मिशनरियों से विवाद

इसी बीच ईसाई मत के त्रिमूर्तिवाद और ईसा मसीह की अलौकिकता के प्रश्न को लेकर कलकत्ते के समीप सीरामपुर मे अड्डा जमाए हुए विदेशी ईसाई मिशनरियो के साथ भी उनका एक लम्बा और कटु विवाद छिड गया। बात यह हुई कि सभी धर्मो के शाश्वत सत्य के प्रति श्रद्धा का भाव रखनेवाले उदारमना राममोहन ने अपने एक ईसाई मित्र पादरी आदम और अन्य एक योरपीयन की सहायता से बाइबिल के कुछ अशो का बँगला मे अनुवाद किया था। इसके अलावा अलग से 'प्रिसेप्ट्स ऑफ जीसस' (अर्थात् ईसा के धर्म-नियम) के नाम से एक अग्रेजी पुस्तक भी उन्होने १८२० ई० मे प्रकाशित की थी, जिसमे बाइबिल मे से ईसा के प्रमुख उपदेशो को चुनकर एक सकलन के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस सग्रह में उन्होने बाइबिल के ऐसे अशो को जानबूझकर छोड़ दिया था, जिसमे किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कारो अथवा अन्य करामातो का उल्लेख था। कारण, एक तो इन बातो मे उनका विश्वास न था, दूसरे हमारे लिए इन बातो का कोई महत्त्व भी न था। परन्तु यह काँट-छाँट भला उन धर्मान्ध मिशनरियों को क्योकर सहन हो सकती थी! उन्होने इस चेष्टा से बेतरह रुष्ट होकर 'फ्रेड ऑफ इन्डिया' और 'समाचार-दर्पण' नामक अपने पत्रो मे अत्यन्त कटुतापूर्वक राममोहनराय पर धावा बोल दिया। साथ ही मानो बदला चुकाने के लिए हिन्दू धर्म और सस्कृति पर भी अशोभनीय रीति से कीचड उछालना शुरू किया। पर राममोहन इन प्रहारो से दब जानेवाले व्यक्ति न थे। उन्होने एक ओर तो पुनः 'ए सेकण्ड डिफेन्स ऑफ दी मॉनोथीस्टीकल सिस्टम ऑफ दी वेदाज' (अर्थात् 'वेदो के एकेश्वर-वाद का पुनर्मण्डन') शीर्षक एक ट्रैक्ट लिखकर अपने सहधर्मी आलोचको का मुँह बन्द कर दिया। दूसरी ओर अपने नवसस्थापित 'ब्राह्मनिकल मेगेजीन' नामक अग्रेजी पत्र मे ईसाई जगत् के नाम क्रमश अपनी तीन प्रसिद्ध 'अपीलें' निकालकर उन मिशनरियो के मिथ्या आरोपो का भी करारा जवाब दे दिया। इन अपीलो द्वारा ईसाई धर्म-सम्बन्धी अपने गहन ज्ञान का परिचय देकर उन्होने विलायत तक के धर्मशास्त्रियो की आँखे खोल दी!

पादरी आदम का प्रसंग

इन्ही दिनो घटनाचक्र ने एक और रग बदला। उनके उपर्युक्त विवाद का उनके अन्तरग मित्र पादरी आदम पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि वह सीरामपुर के 'ट्रिनिटेरियन' (त्रिमूर्तिवादी) चर्च से किनारा कसकर 'यूनिटेरियन' (एकेश्वरवादी) बन गया! साथ ही कुछ मित्रो के सहयोग से उसने कलकत्ते मे एक पृथक् यूनिटेरियन उपासनालय भी प्रस्थापित कर लिया, जिसकी नियमित प्रार्थनाओ मे राममोहन भी शरीक होने लगे। इस पर लोगो मे यह भ्रम फैलने लगा कि राममोहनराय विधिवत् ईसाई बना लिए गए! परन्तु राममोहन-जैसे उदारचेता महापुरुष का व्यक्तित्व भला साधारण जनो की समझ मे क्योकर आ सकता था—वह कोई मामूली व्यक्तित्व तो था

नही ! वस्तुतः यह महान् सत्यान्वेषक यदि किसी भी मत-मतान्तर के आँगन की ओर उत्साहपूर्वक अपने कदम बढाता था, तो इसका यह अर्थ तो था नही कि वह उसके बाह्याडम्बर के जजाल मे भी उलझने जा रहा हो ! वह तो केवल इसीलिए प्रत्येक मत की तह मे छिपे हुए शाश्वत तत्त्व के प्रति श्रद्धापूर्वक शीश झुकाता था कि उसमे उसे अपने उस महान् आदर्श की कुछ-कुछ आभा दिखाई पड़ती थी, जिसे पिछले चालीस वर्षो से उसने अपने अन्तस्तल मे बसा रक्खा था। उसका वह आदर्श विश्व-धर्म ही उसकी आत्मा की प्यास पूरी तरह बुझा सकता था, किसी विशिष्ट सप्रदाय या मत विशेष की मृगमरीचिका नही। वह तो देख रहा था एक ऐसी सार्वभौम विश्व-वेदी का सपना, जिसका मच सकीर्ण साम्प्रदायिकता, अध रूढिवादिता और भेद-भावमूलक ऊँच-नीच की भावनाओ के दलदल से एकदम ऊपर उठा हुआ हो और जिसके अन्तर्गत एकेश्वरवाद के अडिग सिद्धान्त पर स्थापित सभी धर्मो के शाश्वत सत्य जगह पा सके !

'ब्राह्म समाज' की स्थापना

अपने कल्पनालोक मे बसे हुए उस सार्वजनीन धर्म-आँगन का कुछ-कुछ आभास वह अब से चौदह वर्ष पूर्व 'आत्मीय सभा' के रूप मे एक प्रयोगात्मक सस्था की प्रस्थापना कर दे चुका था। परन्तु उसकी सपूर्ण रूपरेखा तो अब भी वाष्पीभूत नीहारिका की भाँति अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते हुए उसके मानसाकाश मे उमड़-घुमडकर मूर्त रूप ग्रहण करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रही थी। अन्त मे वह चिरप्रतीक्षित शुभ घड़ी भी आ पहुँची और २० अगस्त, सन् १८२८ ई०, के दिन सभी जातियो, वर्णो और सप्रदायो के लोगो को एक ही अलख अद्वितीय परमात्मा की आराधना-उपासना के लिए आमत्रित कर राममोहन-राय ने अपने चिरस्मारक 'ब्राह्म समाज' के रूप मे उस विश्व-वेदी का उद्घाटन कर दिया ! निश्चय ही वह दिन न केवल उनके ही अपने जीवन का प्रत्युत सारे ससार के धार्मिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पर्व-दिवस था।

इस महान् धर्म-सस्था की प्रतिष्ठा कर राममोहन ने किसी नए मत-मतान्तर या पृथक् सप्रदाय का जंजाल खड़ा करने का प्रयास नही किया था। उन्होने तो सभी धर्मों की उच्च शिक्षाओ के तत्त्व से अभिसिंचित एक सामान्य पृष्ठभूमि मात्र तैयार कर दी थी। उस पृष्ठभूमि पर एकत्रित होकर सब कोई बिना किसी भेदभाव के कधे से कधा मिलाकर उस जगन्नियता की आराधना-उपासना मे प्रवृत्त हो सकते थे। स्वय उन्होने ही डेढ वर्ष बाद कलकत्ते के प्रथम ब्राह्म मदिर के उपासनालय के उद्घाटन के अवसर पर उसके प्रख्यात विधान-पत्र (ट्रस्ट-डीड) में निम्न ज्वलन्त शब्दो द्वारा अत्यन्त व्यापक रूप मे इस महान् सस्था के आदर्श और उद्देश्यो का सुस्पष्ट आलेख कर दिया था:—

"..............(यह स्थान) बिना किसी भेद-भाव के सभी जातियो और वर्णो के ऐसे व्यक्तियों के एकत्रित होने के लिए है, जो उस विश्व-नियन्ता, जगद्पालक, अनत, अज्ञेय, अविनश्वर परमात्मा की सद्भावनापूर्वक आराधना-उपासना करने के लिए प्रस्तुत हों — किन्तु किसी विशिष्ट व्यक्ति या सप्रदाय द्वारा आरोपित विशेष नाम-रूप के आधार पर नही। न इस उपासनालय की परिधि मे कभी किसी की मूर्ति, प्रतिमा या चित्र आदि का प्रवेश होने दिया जाय,..........न किसी प्राणी की हिंसा यहाँ होने दी जाय,......न पूजा आराधना के क्रम मे किसी भी व्यक्ति या सप्रदाय द्वारा मान्य किसी भी जड-चेतन वस्तु की निन्दा के रूप मे कभी कोई बात यहाँ कही जाय, ..न उक्त आराधना के समय ऐसे प्रवचनो, प्रार्थनाओ और धर्म-स्तोत्रो के सिवाय — जो कि हमे उस विश्व-स्रष्टा जगद्पालक के स्मरण-चिन्तन की ओर प्रवृत्त कर अधिकाधिक परोपकार, नीतिपालन, धार्मिकता, उदारता और सदाचरण की ओर ही अग्रसर कर सके और सभी धर्मो एव जातियो के मनुष्यो मे परस्पर एकता का बधन सुदृढ बनाने मे योग दे सके — अन्य किसी प्रकार के प्रवचनादि का ही यहाँ कभी प्रयोग किया जाय !"

एक नवीन युगान्तर की सूचना

इस प्रकार बहुत दिनो से उजाड-सी पडी हुई हमारी धर्म-वाटिका मे फिर से एक नवीन पौधा अकुरित हुआ। यह पौधा था तो बहुत ही नन्हा-सा, फिर भी हमारे लिए एक नए युगान्तर का द्योतक था ! क्योकि वह हमारे लिए और कुछ लाया हो या न लाया हो, परन्तु इस बात की सूचना तो अवश्य ही लेकर वह आया था कि फिर से हमारे

राष्ट्रीय जीवन में एक नूतन वसन्त का प्रस्फुटन होने-वाला था ! वह हमारे लिए एक नवीन युगधारा का प्रतीक था। यद्यपि उसका उद्भव और विकास एक विशुद्ध धर्म-सस्था के ही रूप में हुआ था, किन्तु उसका व्यापक प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन के समूचे ऑगन पर पडा । उसने परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से हमारे जीवन के प्रत्येक अग मे नूतन चेतना का स्वर जगाने मे योग दिया । यही हमारे लिए उसकी सबसे अधिक महत्त्व की देन थी। इसके कारण हमारे इतिहास का एक पूरा अध्याय युग-युग तक के लिए उसकी गौरव-प्रशस्ति से आलोकित रहेगा, इसमे तनिक भी सदेह नही।

ब्राह्म समाज का स्वरूप और महत्त्व

इस सार्वजनीन धर्म-सस्था की स्थापना करने मे जिन लोगो ने प्रमुख रूप से राममोहनराय का हाथ बॅटाया था, उनमे महाकवि रवीन्द्रनाथ के पितामह प्रिस द्वारकानाथ ठाकुर, पडित रामचन्द्र विद्यावागीश, कालीनाथ राय, चद्रशेखर दे, प्रसन्नकुमार ठाकुर और ताराचन्द्र चक्रवर्ती के नाम विशेष उल्लेखनीय है। आरभ मे इस सस्था का नाम 'ब्राह्म सभा' रक्खा गया था, पर बाद मे बदलकर वही 'ब्राह्म समाज' कर दिया गया। प्रति शनिवार को सायकाल ७ से ९ बजे तक उसकी नियमित बैठक होती थी। उसमे उपनिषदो के कुछ चुने हुए अशो के पाठ तथा बॅगला मे उनकी व्याख्या के अतिरिक्त बॅगला ही मे एक धर्म-प्रवचन भी होता था और राम-मोहन द्वारा रचित कुछ धर्म-गीत भी गाए जाते थे। लगभग सभी वर्ण और जाति के लोग इस उपासना मे सम्मिलित होते थे। उन पर किसी भी प्रकार के शुल्क, प्रवेश-नियम आदि का बन्धन न था।

इस नई सस्था का आगे चलकर क्या स्वरूप हो गया और वह क्या से क्या हो गई, यह हम उसके अन्य दो भावी महान् नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन से परिचय पाते समय देखेगे। यहाँ तो एक पाश्चात्य विद्वान् प्रो० जकरियास के शब्दो मे केवल यही भर सूचित कर उसके महत्त्व की ओर निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि "राम-मोहनराय और उनका यह ब्राह्म समाज ही हिन्दू धर्म, समाज या राजनीति के क्षेत्र में समुच्छ्वसित उन सभी सुधारमूलक आदोलनो की युग-धाराओ के मूल स्रोत के रूप मे हमे दिखाई देते है, जिन्होने विगत सौ वर्षों मे भारत को हिलाया और जगाया है, और जिनके कारण इस देश का वर्त्तमान युग मे आकर ऐसा अद्भुत पुनरुत्थान हो पाया है।"*

समाज-सुधार के क्षेत्र में

यह तो हुआ हमारे महान् चरितनायक की दिव्य देन के केवल एक ही विशिष्ट पहलू—अर्थात् धर्म के क्षेत्र मे उसके महत्त्वपूर्ण कार्य—का ही सक्षिप्त दिग्दर्शन। पर वस्तुतः क्या धर्म और दर्शन, क्या समाज और राजनीति, क्या शिक्षा और साहित्य, आदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई अग नही था, जो उसके कार्यक्षेत्र की परिधि से बाहर छूट गया हो ! उसने सभी ओर अपना सुधारवादी हाथ बढाया और उन्हे अपनी प्रतिभा द्वारा अनु-प्राणित कर दिया ! कौन नही जानता कि उसके ही अनवरत आदोलन की बदौलत इस देश मे 'सती-दाह' जैसी अमानुषिक सामाजिक कुप्रथा का राजकीय विधान द्वारा अत हुआ ! इस कुप्रथा की आड मे हमारा अध समाज प्रति वर्ष हजारो नव-विधवाओ को जबरन डडो से धकेलकर मृत पति की चिता पर जिन्दा ही जला डालता था ! स्वय राममोहन ही के अपने परिवार मे उनके बडे भाई जगमोहन की अबला पत्नी का इसी प्रकार दारुण अत हुआ था। लाख प्रयत्न करने पर भी वह बेचारे उसे चिता की आग से बचाने मे सफल न हो सके थे ! तभी से उन्होने यह दृढ सकल्प कर लिया था कि इस गर्हित अनाचार की जड उखाड़कर ही वह चैन लेगे।

उन्होने इस क्रूर प्रथा को मूल भारतीय सस्कृति और धर्म के बिल्कुल विरुद्ध और शास्त्र द्वारा अवैध प्रमाणित करते हुए सन् १८१८ ई० मे एक ट्रैक्ट या पुस्तिका प्रकाशित की। तदनन्तर उसके खिलाफ जोरदार आदोलन शुरू कर उसके हिमाय-तियो के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी, लगातार दस वर्ष तक जूझकर, तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड बैन्टिक द्वारा १८२९ ई० मे सती-दाह-निषेधक कानून बनवा दिया। इस प्रकार सदा के लिए हिन्दू समाज के इस निन्दनीय कलक को धोकर ही उन्होने दम लिया। इसी तरह बगाल के सामाजिक जीवन मे महामारी की भाँति प्रचलित 'कुलीन-प्रथा' के विरुद्ध भी उन्होने

*प्रो० जकरियास कृत 'रिनासेंट इंडिया' (पृ० २३)।

अपनी आवाज उठाई। साथ ही भारतीय स्त्रियो की तत्कालीन शोचनीय दशा के प्रति ध्यान आर्कषित करते हुए, आज से एक शताब्दी पूर्व ही विधवाओं के पुर्नविवाह, अतर्जातीय विवाह, स्त्रियो के सपत्ति-विषयक अधिकार तथा शिक्षा-दीक्षा के महत्त्व पर भी उचित प्रकाश डाला। इस संबध मे 'वर्त्तमान समाज द्वारा स्त्रियो के प्राचीन अधिकारो के अपहरण सबधी कुछ विचार' (१८२२ ई०) तथा 'बगाल के सामाजिक विधानानुसार पैतृक सपत्ति-विषयक हिन्दुओ के अधिकार' (१८३० ई०) नामक उनके दो निबन्ध पढ़ने योग्य है। वस्तुत: स्त्रियो के हितो की रक्षा के लिए लड़ाई लड़नेवाला राममोहनराय से अधिक उत्साही दूसरा कोई नेता इस देश मे आज के युग मे न हुआ।

शिक्षा और साहित्य के प्राङ्गण में

इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे भी 'हिन्दू कॉलेज', 'इंग्लिश स्कूल', 'वेदान्त कॉलेज', आदि कलकत्ते की विविध आरभिक शिक्षण-सस्थाओं के जन्म और विकास के कार्य मे योग देकर उन्होने हमें प्रगति का एक नया रास्ता दिखाया। देश की वर्त्तमान आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए उन्होने पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए विशेष जोर दिया। और तो और, आधुनिक ढग की उचित पाठ्य-पुस्तको का अपने यहाँ अभाव देखकर, उन्होने स्कूलो में पढाने के लिए अपनी मातृभाषा बँगला में भूगोल, ज्यामिति, खगोल विज्ञान और व्याकरण पर अनेक छोटी-छोटी सरल पोथियाँ तक लिखी! ऐसा था उनका शिक्षा-सबधी अदम्य उत्साह!

उनके हाथों हमारे साहित्य को जो वल मिला, उसका अनुमान तो उनकी लेखनी के प्रसाद के रूप मे हमारी राष्ट्रीय निधि मे सचित बँगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी मे लिखित उनकी उन विविध कृतियो ही से लगाया जा सकता है, जिनमे उनके जीवन-कार्य का वास्तविक लेखा अकित है। उन्होने ही १८१९ ई० मे 'सवाद-कौमुदी' के नाम से भारतीय तत्त्वावधान मे निकलनेवाले सर्वप्रथम बँगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया। इसके तीन वर्ष बाद फारसी भाषा में भी 'मिरातुल अखवार' नामक अपने एक पत्र का प्रकाशन उन्होने आरम्भ किया! इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा शिक्षा-प्रसार की भाँति, पत्रकला के क्षेत्र मे भी वही हमारे सर्वप्रथम अग्रदूत थे। कहते है, जब १८२३ ई० मे भारतीय समाचारपत्रों पर प्रतिबंध लगानेवाला एक काला कानून जारी हुआ था, और उसके अतर्गत 'कलकत्ता जर्नल' नामक अग्रेजी पत्र के सपादको का दमन किया गया था, तो राममोहन ने विचार-स्वातत्र्य का नारा बुलन्द करते हुए तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट और सम्राट् की कौसिल तक अपने विरोध का मेमोरडम भेजा था! इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह किस कोटि के सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और नेता थे!

राजनीतिक विचार

धर्म और समाज की भाँति राजनीति के क्षेत्र मे भी यह महान् राष्ट्रनायक एक ऊँचे मानदण्ड पर स्थित था। उसकी विशद राजनीति केवल एक ही जाति-विशेष के हित-अहित के सकीर्ण घिरौदे मे बद राजनीति न थी। वह तो एक प्रकार के अतर्राष्ट्रीय आदर्श से ओत-प्रोत थी, जिसमे ससार भर के पीडित और शोषित जनो के प्रति समवेदना और सौहार्द्र की एक सच्ची भावना निहित थी। उसके निकट ससर्ग मे आनेवाले पादरी आदम ने लिखा है कि 'स्वतत्रता की लगन उसकी अतरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी।' यह स्वातत्र्य-भावना उसके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी कार्यों मे फूट-फूटकर टपकी पडती थी।

उसके अतराल मे धधकती हुई स्वतत्रता की इस आग का हाल यह था कि जब उसने सुदूर स्पेन की जनता द्वारा स्वायत्त शासन की प्राप्ति का समाचार पाया था, तो उसकी खुशी मे ही कलकत्ते के टाउनहॉल मे एक शानदार सार्वजनिक प्रीति-भोज उसने दिया था! इसी प्रकार जब ऑस्ट्रियन सैनिक सत्ता द्वारा नेपल्स नगर के निवासियो के अधिकारो के कुचले जाने की खबर उसे सुनने को मिली थी, तो विक्षुब्ध होकर अपने एक पत्र में निम्न शब्दो मे मानो निराशा और रोष के मारे वह चीख-सा उठा था—'इस हृदयविदारक समाचार को पाकर मै विवश हो इस नतीजे पर पहुँच रहा हूँ कि सम्भवत: मुझे अब अपने जीवन मे वह दिन देखने को न मिलेगा, जब योरप और एशिया के समग्र कुचले हुए राष्ट्रो को, विशेषकर उन राष्ट्रो को जो योरपवालों के अधीन उपनिवेश बने हुए है, फिर से अपनी खोई हुई स्वतंत्रता प्राप्त हो

सकेगी ! परिस्थिति को देखते हुए उन पीड़ित नेपलसवासियो के हित-अहित और सघर्ष को मै स्वत. अपने ही हित-अहित और सघर्ष-जैसा समझता हूँ और उनके दुश्मनो को अपना दुश्मन मानता हूँ। स्वाधीनता के शत्रु और निरकुशता के हिमायती अतत न कभी सफल हुए है और न होगे !' और तो और, अपने फारसी पत्र 'मिरातुल अखबार' मे उसने आयर्लैण्ड तक के कष्ट और असतोष पर एक लेख प्रकाशित किया था ! तो फिर क्या उसके हृदय मे स्वय अपने ही मातृप्रदेश की राजनीतिक अधोगति देखकर एक कसक-सी न उठती रही होगी ?

राष्ट्रोदय का इच्छुक देशभक्त

निश्चय ही वह अपने देश के राजनीतिक अभ्युदय के लिए भी उसी प्रकार चिन्तित और उत्कठित था, जिस प्रकार कि उसके धार्मिक और सामाजिक पुनरुत्थान के लिए । किन्तु इस आकाक्षा की पूर्ति के लिए वह बाद के अन्य अनेक उदार-नीतिधर्मी राष्ट्रनेताओ की भाँति नवसस्थापित विदेशी शासन-तत्र के साथ सहयोग की नीति बरतने और उसकी सद्भावनाओ पर विश्वास रखने का विशेष रूप से हिमायती था । इसका कारण यह था कि उसका विश्वास था कि इस राजतत्र की छत्रछाया मे इस देश का अभ्युत्थान कही अधिक तीव्रतर गति से हो सकेगा ।

परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि उसमे यह भावना उचित साहस अथवा देशभक्ति की कमी के कारण थी । वस्तुत वह किस हद तक आगे बढने को तैयार था, इसका कुछ-कुछ आभास हमे स्व० रामानन्द चटर्जी द्वारा लिखित 'राममोहन-राय और आधुनिक भारत' नामक पुस्तक मे उल्लिखित इस राष्ट्रनेता की उस खुली प्रतिज्ञा मे मिल जाता है, जो उसने तत्कालीन प्रस्तावित 'रिफार्म बिल' (शासन-सुधार-सम्बन्धी विधान) के सिलसिले मे की थी । कहते है, उसने यह स्पष्ट घोषित कर दिया था कि 'यदि यह विधान न बन पाया, तो मै इँगलैंड के साथ सदा के लिए अपना सबध तोड दूँगा !' ऐसी थी उस सच्चे देशभक्त की साहसपूर्ण राजनीति और ऐसा उत्कट था समस्त ससार के प्रति समवेदना का भाव रखनेवाले उस महान् विश्व-धर्मी का मातृभूमि के प्रति प्रेम ! फिर उसकी राष्ट्रभक्ति मे किसे सदेह हो सकता है !

विलायत-यात्रा और राष्ट्रीयप्रचार-कार्य

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पूर्व और पश्चिम को एक-दूसरे के समीप लाने मे विशिष्ट योग देनेवाले इस महापुरुष ही के पल्ले यह कार्य भी पडा कि वही इस युग मे सबसे पहले इस देश से पश्चिम की दुनिया मे जाकर यहाँ का भ्रातृत्व का सदेश सुनाए और आगे आनेवाली पीढियो के लिए उस नई दुनिया से परिचय पाने के मार्ग का उद्घाटन करे । राममोहन ही सर्वप्रथम उच्च वर्ण के भारतीय थे, जिन्होने आधुनिक युग मे समुद्र-यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लघन कर पहले-पहल पाश्चात्य जगत् की ओर कदम बढाया था । वह विलायत की यात्रा करने के लिए तो बहुत दिनो से उत्सुक थे, परन्तु इसके लिए अब तक कोई उपयुक्त अवसर उन्हे नही मिला था । तब १८३० ई० के अन्तिम दिनो मे दिल्ली के तत्कालीन नाममात्र के बादशाह, अकबर द्वितीय, द्वारा सौपे गए एक राजकीय कार्य के रूप मे अनायास वह मौका हाथ लग गया।

बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कपनी के रवैये के प्रति अपनी कुछ शिकायतो को दिल्ली का यह कठ-पुतली मुगल सम्राट् इगलैण्ड के बादशाह के आगे पेश करना चाहता था और इस काम के लिए उसे भला राममोहनराय से अधिक योग्य व्यक्ति दूसरा कौन मिल सकता था ? अतएव उसने उन्हे 'राजा' की पदवी देकर विधिपूर्वक अपने राजदूत के रूप मे इगलैण्ड के लिए रवाना किया । वह १५ नवम्बर, सन् १८३० ई०, के दिन अपने दत्तक पुत्र राजाराम-राय और दो अनुचरो के साथ जहाज द्वारा अपनी इस लम्बी यात्रा पर रवाना हुए और अनेक कठिनाइयो का सामना करते हुए लगभग डेढ वर्ष बाद इगलैण्ड पहुँच लिवरपुल के बन्दरगाह पर उतरे ।

कहने की आवश्यकता नही कि उनके आगमन से वहाँ के समाज मे एक अभूतपूर्व खलबली-सी मच गई । शीघ्र ही उनके उस प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रकाण्ड पाण्डित्य एव उच्च दार्शनिक विचारो की ऐसी धाक जमी कि जैरेमी बैन्थम जैसे समसामयिक ब्रिटिश विद्वान् तक उनसे भेट करने मे गौरव का अनुभव करने लगे ! जहाँ-जहाँ भी वह गए, उन्हे सम्मान ही प्राप्त हुआ । इस बीच जिस कार्य के लिए मुगल सम्राट् ने उन्हे भेजा था, उसको निबटाने के अतिरिक्त स्थान-स्थान में व्याख्यानों,

प्रवचनों आदि द्वारा भारत के हितसाधन के लिए जो कुछ भी वहाँ किया जा सकता था, उसे करने मे उन्होने कोई कसर न उठा रक्खी। उन्होने सती-दाह-निषेधक कानून के विरुद्ध अपने देश के कट्टरपंथी समाज द्वारा पेश की गई अपील को रद्द कराया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर की पुनरावृत्ति के सिलसिले मे नियुक्त शाही जाँच-कमिटी के सामने गवाही देकर, तत्कालीन रेवेन्यू और जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करते हुए, देश की जनता की यथार्थ स्थिति और आवश्यकताओ पर भरपूर प्रकाश डाला। पार्लामेंट मे भारतीय शासन-सुधार के सम्बन्ध मे पेश प्रस्तावित 'रिफार्म-बिल' को पास कराने मे भी समुचित योग दिया। साथ ही भारत के संबंध मे पश्चिम मे फैली हुई गलत धारणाओ को दूर करते हुए, वहाँ के सामयिक पत्रो मे लेख लिखकर हर प्रकार से अपने देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का भी प्रयास किया।

देहावसान

इन्ही दिनो उन्होंने फ्रान्स की राजधानी पेरिस का भी एक चक्कर लगाया, जहाँ जनता और शासक दोनो ने उन्हे समुचित आदर प्रदान किया। किन्तु जलवायु की प्रतिकूलता, अत्यधिक श्रम तथा आर्थिक कठिनाइयो के कारण उनका यह विलायत का प्रवासकाल दुर्भाग्य से बहुत थोड़ी ही अवधि का रहा। वह सख्त बीमार पड गए और उस सुदूर विदेश ही मे २७ सितम्बर, सन् १८३३ ई०, के दिन ब्रिस्टल नगर के समीप स्टेपल्टन ग्रव नामक स्थान मे ६२ वर्ष की आयु मे कराल काल ने सदा के लिए उन्हे इस लोक से उठा लिया! वहीं मातृ-भूमि से हजारों मील दूर उनके पार्थिव शरीर की सम्मानपूर्वक अंत्येष्टि-क्रिया की गई। तदनन्तर उसी समाधिस्थल पर बाद मे उनके भक्तो द्वारा वह छोटा-सा सुन्दर स्मारक निर्मित कर दिया गया, जो आज के दिन विलायत जानेवाले भारतवासियो के लिए एक तीर्थस्थल-सा बन गया है!*

इस प्रकार एक महान् जीवन का अंत हुआ, किन्तु उसके जादूभरे प्रभाव से साथ ही साथ आरंभ हुआ हमारे देश की आत्मकथा का एक ऐसा नूतन और गौरवशाली अध्याय भी, जिसने इस दुर्दिन मे हमारी आशा के पौधे को एकदम झुलसकर मुरझा जाने से बचा लिया!

आधुनिक भारत के उद्गाता

सौ वर्ष बाद उनकी स्मृति मे आयोजित एक सार्वजनिक सभा-मंच से श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्व० कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने कहा था—"राममोहनराय ही को भारतवर्ष के आधुनिक युग का उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है। उनका जन्म एक ऐसे समय में हुआ था, जब हमारा देश अपने प्राणतत्त्व का संस्पर्श खोकर केवल परिस्थिति की गुलामी करता हुआ अज्ञान के भारी बोझ के नीचे दबकर छटपटा रहा था! उन दिनों क्या सामाजिक रीति-रिवाजो मे, क्या राजनीति मे, और क्या धर्म और कला के क्षेत्र मे हम एक ऐसी उतार की मंजिल पर आ पहुँचे थे, जहाँ एक जर्जरीभूत परंपरा के वशीभूत होकर हम अपनी सारी सर्जनात्मक प्रवृत्ति गँवा मानव-धर्म से किनारा कसने लगे थे! पतन के उस अंधकारपूर्ण घटाटोप मे ऋषियो की-सी पुनीत दिव्य दृष्टि और दुर्द्धर्ष आत्मतेज से युक्त एक ऐसे ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप मे इस देश के ऐतिहासिक गगन मे राममोहन का उदय हुआ, जिसकी आभा से यह भूमि फिर से प्रदीप्त हो उठी! इस महापुरुष ने हमे अपने निजी अज्ञानान्धकार मे लीन हो जाने की दुर्दशा मे बचा लिया और अपने व्यक्तित्व के विद्युत्प्रभाव तथा आत्मा के निर्द्वन्द्व स्वातन्त्र्य-प्रकाश से हमारी राष्ट्रीय जीवनधारा को एक नूतन सर्जना की भावना से अनुप्राणित कर फिर से हमे आत्मोपलब्धि के कठोर अनुष्ठान मे सन्नद्ध कर दिया! वही इस शताब्दी का हमारा सबसे महान् मार्गशोधक था! उसने पग-पग पर हमारी उन्नति मे बाधा डालनेवाले रोडो को राह से अलग हटाकर हमे विश्व-सहयोग और निखिल मानवता के युग मे ला खड़ा कर दिया! वह था इस देश के उन महान् क्रान्तदर्शी ऋषियो की परंपरा का व्यक्ति, जिन्होंने समय-समय पर इतिहास के आँगन मे उतरकर हमे शाश्वत मानव का अमर संदेश सुनाया है।

"×××××तो फिर आज जब कि हमारी पुरानी पड गई सामाजिक रूढ़ियाँ एकता की सशक्त पुकार के आगे दिन-प्रति-दिन घुटने टेक रही है,

*** पिछले दिनों यह प्रस्तावित किया गया है कि इस महान् राष्ट्र-निर्माता की अस्थियों को हटाकर स्वदेश ले आया जाय और यहाँ उसका एक भव्य स्मारक निर्मित किया जाय।**

जबकि जातिगत भेदभाव की दीवारे हमारी उमड़ती हुई भ्रातृभावनाओं का वेग रोकने में अपने आपको असमर्थ पा रही है, जबकि इस देश के निवासियो के बीच एकता की आवश्यकता का प्रश्न अपने प्रबलतम रूप में उठ खड़ा हुआ है, और फलतः इस भूमि के इस छोर से उस छोर तक एक नूतन चेतना की लहर दौड़ गई है, ऐसे समय मे हमे यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे पुरुषत्व का यह पुनरोदय ऐक्य के उस महान् विधायक राममोहनराय ही के अदम्य प्रताप से सभव हो पाया है! उसे ही भारत के अतराल की सर्वोपरि पुकार को इस प्रकार सशक्त रूप से फिर से प्रतिष्ठापित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए—वह पुकार जोकि सबके हृदय में निवास करनेवाले और एक ही कल्याणसूत्र में सबको ग्रथिबद्ध करनेवाले परमात्मा की भक्ति-उपासना के क्षेत्र में सभी मनुष्यो की समानता-विषयक इस देश की चिर-अमर भावना मे निहित है!"*

बहुमुखी देन

राममोहनराय न केवल भारत ही के प्रत्युत ससार भर के अन्यतम महापुरुषों की श्रेणी मे प्रतिष्ठित किए जाने योग्य एक अद्वितीय रत्न थे। इतना व्यापक था उनका व्यक्तित्व कि उनके जीवन के किसी एक विशेष पहलू ही को लेकर उनका पूरा परिचय देना असभव है। वह धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य, पत्रकला, दर्शन और तत्त्वज्ञान—सभी क्षेत्रो मे समान रूप मे अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करने मे सफल हुए थे। एक ओर तो कुसस्कारजनित अध-रूढियों के विध्वसक के रूप मे उग्र रूप से समाज के मकडी-जालो को झाडते-बुहारते वह दिखाई दिए थे। दूसरी ओर साथ ही साथ सभी क्षेत्रो मे रचनात्मक कार्यो की एक ऐसी अनमोल वसीयत भी वह अपने पीछे छोडते गए थे कि विरला ही कोई एक व्यक्ति इतने विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को कभी प्रदान कर गया हो! वह हर दृष्टि और पहलू से इस देश के आधुनिक युग के पिता थे। उन्ही के हाथों पहले-पहल सुधार और संगठन का मंत्र सीखकर हमने नवयुग का वह विधान पाया, जिसके बल पर हम आज उन्नति की कक्षा में प्रवेश कर सके। उन्होंने ही कूपमण्डूकता के दायरे से बाहर कदम बढाने का साहस कर इमे विचार-स्वातत्र्य के स्वस्थ वातावरण में ला खड़ा किया और अपने हाथों अपना गला घोंट लेने की दुर्गति से बचाया।

महान् विश्व-धर्मी

परन्तु एक महान् समाज-सुधारक, शिक्षा-शास्त्री, पत्रकार, राजनीतिज्ञ तथा साहित्य-महारथी होने के बावजूद यथार्थ मे वह थे विशुद्ध धर्म के क्षेत्र के व्यक्ति ही। वह एक सच्चे साधक, उपासक और तत्त्व-चिन्तक थे, जिनका कि व्यक्तित्व अपने पूर्वगामी सत कबीर और बाद के महापुरुष गाधी की भाँति किसी लघु साम्प्रदायिक सीमा में समानेवाला व्यक्तित्व न था। वह तो एक सार्वभौम व्यक्तित्व था। तभी तो, जैसा कि विलायत के लिए रवाना होते समय अपने एक मित्र नन्दकिशोर वसु से उन्होने स्वय ही भविष्यद्वाणी करते हुए कहा था, सचमुच ही मृत्यु के बाद हिन्दुओ ने उन्हे एक महान् 'वेदान्ती हिन्दू', मुसलमानो ने एक पहुँचा हुआ 'सूफी मुसलमान', और ईसाइयो ने एक सच्चा 'यूनिटेरियन ईसाई' समझा!

सच तो यह था कि अपने विशद दृष्टिकोण के कारण यह महापुरुष सभी जाति-धर्मवालो को ऐसा जँचता था कि वह सारे ससार की सम्पत्ति बन गया था। उसका धर्म था एक निखिल विश्व-धर्म, उसकी जाति थी सम्पूर्ण मानव-जाति, और उसका देश था भौगोलिक सीमाओ से मुक्त यह सारी वसुन्धरा! वह था वस्तुतः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को सामने रखनेवाला एक महान् विश्व-नागरिक! यदि वह मध्ययुग मे पैदा हुआ होता, तो आश्चर्य नही कि शकर जैसा एक महान् दार्शनिक अथवा कबीर, नानक, दादू जैसा एक सत होता। तो फिर कैसे हम उसकी महानता को नापे-जोखे? किस प्रकार उसके प्रति अपने अगाध राष्ट्र-ऋण का अनुमान करे? हम केवल यही भर कह सकते है कि इस देश के लिए अपनी आयु की बलि चढाकर यह महामनीषि मानो सदियो के लिए अपनी जर्जराक्रान्त मातृभूमि की फिर से आयुष्य-वृद्धि कर गया!

---

* १८ फरवरी, सन् १९३३ ई०, के दिन राममोहनराय-शताब्दी के अवसर पर आयोजित कलकत्ते की एक सार्वजनिक सभा में सभापति-पद से दिए गए कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के एक भाषण का अंश।
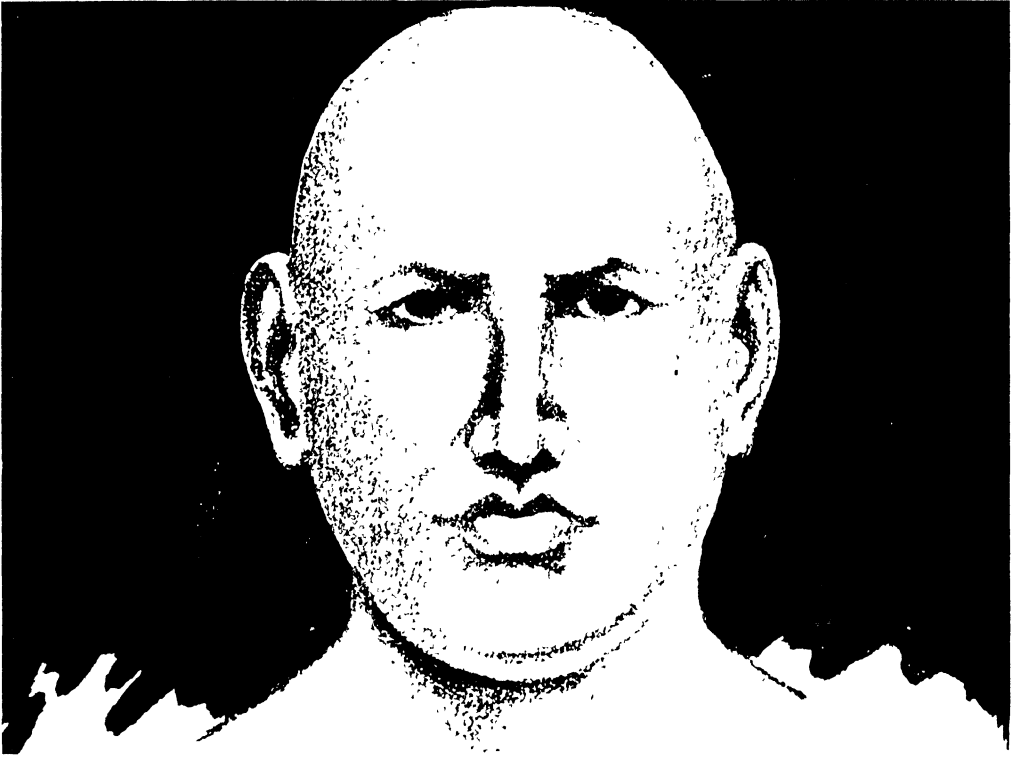
दयानन्द

"मैं सादर प्रणाम करता हूँ उस महागुरु दयानन्द को, जिसकी दिव्य दृष्टि ने भारत की आत्मगाथा मे सत्य और एकता का बीज देखा, जिसकी प्रतिभा ने भारतीय जीवन के विविध अगो को प्रदीप्त कर दिया, जिसका उद्देश्य इस देश को अविद्या, अकर्मण्यता और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व-विषयक अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता के जागृति-लोक मे लाना था, उस गुरु को मेरा बारबार प्रणाम है!"

ये ज्वलत शब्द विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ की अमर वाणी द्वारा अभिव्यक्त अपने उस महान् युग-पुरुष के प्रति अर्पित नवीन भारत की श्रद्धाञ्जलि के प्रतीक है, जो एक पाश्चात्य समीक्षक की दृष्टि मे आया था हमारे कारागार की दीवारे तोड़ने, हमारी आत्मा के बधन छुड़ाने, हमारे समाधि-स्थानो के पाषाण हटाकर हमे पुनर्जीवन का दान देने! ऋषि दयानन्द का आधुनिक भारत के निर्माण में कितना गहरा हाथ है, उनके द्वारा प्रस्तुत की गई सर्वतोमुखी क्रान्ति का स्वरूप कितना उज्ज्वल है, और अपने इस पुनरुद्धार के लिए हम उनके कितने अधिक ऋणी है, इसका विस्तारपूर्वक समुचित विवेचन करने के लिए तो अलग से पूरा एक ग्रथ चाहिए—वह इस छोटे-से जीवन-चित्र मे समा पाने जैसा लघु विषय नही है। दयानन्द है प्राचीन और अर्वाचीन के बीच के हमारे युग-सेतु के एक महत्व-पूर्ण आधार-स्तभ। वह हमे अपने भव्य अतीत के महान् आदर्शो के अनुरूप अपने भविष्य को रचने के लिए प्रेरित करनेवाले इस युग के प्रधान आचार्य है। उन्होंने ही फिर मे हमे वैदिक कर्मयोग का पाठ पढाकर सदियो से विसराए हुए अपने पुरातन धर्म-मार्ग पर लाने का सबसे सबल प्रयास किया। उन्होंने ही उस पाश्चात्य भौतिकवादी आँधी के सकट से सचेत करने मे

प्रबलतम योग दिया, जिसने कि हमारी मूल संस्कृति, भाषा, वेशभूषा आदि सभी कुछ पर छापा मारना शुरू किया था और जिसकी लपेट में आकर हम अपनापन खो क्या से क्या होते चले जा रहे थे! इस प्रकार वह न केवल हमारे एक महान् शिक्षक ही थे, प्रत्युत पितृतुल्य संरक्षक भी थे।

युग-संधि के महापुरुष

उनका हमारे राष्ट्रीय इतिहास में वही स्थान है, जो योरप के इतिहास में मार्टिन लूथर का है। लूथर ही ने ईसाई जगत् में एक महान् क्रान्ति का सूत्रपात कर योरप को मध्ययुग की धार्मिक कूप-मण्डूकता और पुरोहिततन्त्र के चंगुल से छुटकारा दिलाया था। दयानन्द ने भी उसी तरह अंध रूढ़िवादिता और महन्तों, मठाधीशों एवं पंडे-पुजारियों के जंजाल में उलझे हुए भारतीय समाज को एक नया प्रकाश देकर फिर से उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का सद्प्रयास किया था। लूथर ने ईसाइयत में पैदा हो जानेवाली कुसंस्कारजनित अंध धारणाओं के विरुद्ध आवाज बुलन्द करते हुए फिर से बाइबिल की मूल शिक्षा की ओर वापस लौट चलने का आह्वान किया था। दयानन्द ने भी वैसे ही भारतीय धर्म में बाद को घुल-मिल जानेवाली अनेक खटकने-जैसी बातों का विरोध कर वेदों की मौलिक आधारशिला का ही अवलंब लेने के लिए हमें उद्बोधित किया था। किन्तु इसका यह अर्थ न था कि अतीत के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा के आगे उन्हें देश-काल के अनुसार आज की हमारी आवश्यकताओं का ध्यान ही न रहा हो। वस्तुतः हमारे वर्त्तमान और भविष्य की चिन्ता ही उनकी सर्वोपरि चिन्ता थी। यदि उन्होंने हमें अपने भूतकाल की ओर प्रेरित किया था, तो इसका मूल कारण यही था कि उनके विचार में हमारी उस पुरातन युग की कमाई ही में आज की और बाद को आनेवाली समस्याओं की ओषधि सन्निहित थी।

हमारे रोगों के सम्बन्ध में उनका यह निदान कहाँ तक ठीक था, यह तो समय ही बता सकेगा। क्योंकि अब भी हम पूरी तरह रोगमुक्त नहीं हो पाए हैं और दिन पर दिन नई समस्याएँ हमारे वातावरण में पैदा होती जा रही हैं। किन्तु हमारे पुनर्जागरण के महायज्ञ में जो महत्त्वपूर्ण भाग उन्होंने लिया और उसके कारण हमारे इतिहास में जो उच्च आसन सदा के लिए उन्हें प्रदान किया गया, उसकी महत्ता और गौरवगरिमा को कौन अस्वीकार करेगा? दयानन्द राममोहनराय और गांधी के बीच की युग-सन्धि के एक महान् राष्ट्रनिर्माता हैं। यदि दयानन्द न हुए होते, तो हम बहक-कर कहाँ से कहाँ जा पहुँचते, इसकी कल्पना दुःखद है।

क्रांतिकारी बालक मूलशंकर

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पिछले सौ साल की अल्प अवधि ही में इस पुण्यभूमि के एक ही प्रान्त ने दो ऐसी अन्यतम विभूतियों की भेंट हमें दी, जिनके नाम मानव-जाति का हृदयमंथन करनेवाले असाधारण मनीषियों की तालिका में युग-युग तक अमर रहेंगे! विश्ववंद्य गांधी की तो जन्मभूमि गुजरात या सौराष्ट्र प्रख्यात है ही, किन्तु बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि महर्षि दयानन्द भी उसी ऋषिप्रसविनी गुर्जरभूमि के एक छोटे-से गाँव की उपज थे! दयानन्द का बचपन का नाम था मूलशंकर और उनका जन्म संवत् १८८१ वि० (अर्थात् १८२४ ई०) में काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के मोरवी राज्य के टंकारा नामक गाँव में एक उच्च कोटि के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके पिता अंबाशंकर एक कट्टर वेदपाठी, सामवेदी उदीच्य ब्राह्मण और मोरवी राज्य के एक सम्माननीय पदाधिकारी थे। स्वयं दयानन्द ही का कथन था कि उनकी अपनी शिक्षा पाँच वर्ष की आयु ही में आरंभ हो चुकी थी। आठवें वर्ष में प्रवेश करते ही उपनयन-संस्कार के बाद तो विधिवत् वेदाध्ययन में वह संलग्न हो गए थे।

जब मूलशंकर चौदह वर्ष के हुए, तो उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसने उन्हें सदैव के लिए एक दिशा विशेष की ओर मोड़कर धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रचलित अंध भावनाओं का कट्टर विरोधी और एक सच्चा सत्यान्वेषक बना दिया। बात यह हुई कि प्रति वर्ष की भाँति जब उस साल भी महाशिवरात्रि का महान् पर्व-दिवस आया, तो पिता अंबाशंकर ने, जो एक कट्टर शिवभक्त और पक्के रूढ़िवादी ब्राह्मण थे, अपने पुत्र को भी व्रत रखकर सारी रात जागरण में बिताने तथा उपवास करने के लिए विवश किया। वह उसे अपने साथ लेकर पूजा-पाठ के निमित्त अन्य उपासकों सहित

गाँव के बाहर एक शिवालय मे जा डटे । परन्तु आधी रात के लगभग उस मण्डली के सभी लोग तो क्रमशः नीद के झोको के आगे लड़खडाकर एक के बाद एक लोट-पोट हो गए—केवल जागता रहा अपने सकल्प का धनी, सच्चा धर्मव्रती वह चोदह-वर्षीय किशोर मूलशकर ही, जो आँख मे आँख मिलाए एकटक शिव-प्रतिमा को निहारता रहा ।

वह मन ही मन उस महेश्वर की आराधना के मत्र जप रहा था । मदिर के चारो ओर अधकार और सन्नाटा छाया हुआ था । केवल उस मूर्ति के समीप एक घी का दीपक टिमटिमाते हुए थोडा-बहुत उजाला किए हुए था । इतने मे कुछ ही समय बाद यह व्रती बालक देखता क्या है कि एक छोटी-सी चुहिया नैवेद्य की तलाश मे आकर उस शिव-मूर्ति पर उछल-कूद मचा रही है ! अचरज की बात तो यह थी कि जिनके भ्रूविक्षेप के तनिक सकेत मात्र से तीनो लोको का विनाश हो सकता है, वह महारुद्र उस क्षुद्र जीव की इस ढिठाई पर चूँ भी नही करते थे ! तो फिर क्या यह प्रतिमा केवल एक खिलौना ही थी ? बालक मूलशकर के मन मे इस शका के साथ ही विचारो का एक तूफान-सा उठ खडा हुआ । उससे चुप न रहा गया और तत्काल ही पिता को जगाकर अपने सशय का समाधान करने के लिए उनसे पचीसो उसने प्रश्न पूछ डाले ! परन्तु पिता के टकसाली उत्तर उसे सतुष्ट न कर पाए । निदान उसी समय वह उस देवालय से उठकर अपने घर पर चला आया और शिवरात्रि का अपना वह व्रत उसने तोड डाला ! उसके मन मे मूर्ति-पूजा की निस्सारता और पुराणो मे वर्णित देवी-देवताओ की कथा-कहानियो के प्रति घोर अश्रद्धा का बीज अकुरित हो गया और वह सशयाकुर अधिकाधिक बल ही पाता गया, वह फिर मुरझा नही पाया !

जीवन का नया मोड़

पिता ने डाँट-फटकारकर उसे राह पर लाने का भरसक प्रयास किया, किन्तु इसका उस पर कोई अनुकूल प्रभाव पडते न दिखाई दिया । उल्टे अब वह उनकी ओर से और भी अधिक खिचा-खिचा-सा ही रहने लगा । उसका एकमात्र विश्वास-भाजन और पृष्ठपोषक यदि कोई था तो वह उसके एक चाचा थे, जो काफी उदार वृत्ति के व्यक्ति थे । परन्तु दुर्भाग्य से कुछ ही वर्ष बाद महामारी के प्रकोप से उनका असमय ही देहान्त हो गया । इस घटना का मूलशकर के भावुक हृदय पर बहुत ही गहरा प्रभाव पडा । इसके दो वर्ष पूर्व अपनी एक प्यारी बहन को भी इसी तरह कालकवलित होते देखकर इस नवयुवक का मन दुखमूलक ससार की ओर से एकदम उदासीन हो गया था । तब से वह वास्तविक सुख के किसी सुदृढ आधार की निरतर खोज करता हुआ इस जरा-मृत्युग्रस्त समृति के बन्धनो से छुटकारा पाने की औषधि जानने के लिए विकल हो रहा था । उसकी इस असामयिक विरक्ति से घबडाकर अन्त मे उसके माता-पिता ने वही एक उपाय सोचा, जो ऐसी स्थिति मे आम तौर से प्रयोग मे लाया जाता है । उन्होने तुरन्त ही उसका विवाह कर देने का निश्चय किया, ताकि गृहस्थी के मोहजाल मे फँसकर वह इस वैराग्य के भाव को तिलाजलि दे दे ।

गृहत्याग और गुरु की खोज

परन्तु जो व्यक्ति आग से जले की दवा खोजने जा रहा था, वह भला स्वय आग मे क्यो कूदने लगा ! मूलशकर ने विवाह की बेडियो को सामने आते देखकर अपने भरसक टालमटूल की नीति से काम लेने का प्रयत्न किया । उसने वर्ष भर के लिए विवाह को और स्थगित रखने की अवधि पिता से माँगी । तदनतर जब वह अवधि भी समाप्त हो गई तो विशेष शिक्षा के लिए काशी जाने की चाह उसने प्रकट की । पिता ने उसे काशी तो नही जाने दिया, पर पडोस ही के एक गाँव के एक नामाकित पण्डित के पास उसे पढाई के लिए भेजने को वह राजी हो गए । परन्तु जब उस शिक्षक से भी उन्हे यही सूचना मिली कि यह युवक किसी भी दशा मे अपना विवाह करने को राजी नही है, बल्कि शीघ्र ही किसी युक्ति से घर से निकल भागने ही के फेर मे है, तब तो शीघ्रता करने ही मे उन्होने अपनी भलाई समझी । तुरन्त ही ब्याह के बाजे-गाजे बजने लगे । लेकिन यह दृढसकल्पी युवक भी अपने निश्चय पर मानो तुला बैठा था । वह लग्न-तिथि के एक सप्ताह पूर्व ही चुपके से एक दिन घर से भाग निकला । उसने गेरुआ धारण कर लिया और साधुवेष मे उपयुक्त गुरु की तलाश मे यहाँ से वहाँ भटकना शुरू किया ! कहते है, पिता ने टोह

पाकर सिद्धपुर नामक स्थान में फिर से उसे जा पकड़ा और एक कोठरी में बन्द करके उस पर कड़ा पहरा उन्होने बिठा दिया। पर न जाने किस तरह यह विद्रोही पहरेदारो को चकमा देकर उसी रात को फिर से अपनी राह पर चलता बना। अन्त मे नर्मदा-तट पर चाणोद-कल्याणी नामक स्थान मे परमहस परमानन्द के आश्रम में पहुँचकर कई दिनो तक वह वेदात का अध्ययन करता रहा। अन्त मे वही दडी स्वामी पूर्णानन्द के हाथो विधिवत् सन्यास ग्रहण कर वह सदा के लिए ससार-जाल से मुक्त हो गया !

देश-भ्रमण और विरजानन्द से भेंट

इस प्रकार चौबीस वर्ष की आयु ही मे ब्रह्मचारी मूलशकर ग्रहस्थ-जीवन की आश्रम-धर्म की बीच की सीढी लाँघकर सन्यासी दयानन्द के रूप मे परिणत हो गया ! इसके बाद तो किस प्रकार बरसो अपने परम ध्येय की खोज मे यहाँ से वहां भटकते हुए वह नर्मदा से ठेठ गगा और विन्ध्यमेखला से हिमालय तक इस देश की खाक छानता रहा, वह है इतिहास की यवनिका की ओट मे छिपी हुई एक अज्ञात कहानी ! कहते है, इस बीच उसने कुछ समय तक योगानद, ज्वालानद और शिवानद पुरी नामक योगविद्या के आचार्यों से दुश्चर योग सीखा। तदनतर कृष्णशास्त्री नामक एक पडित से व्याकरण और दर्शन के गहन तत्त्वो का अध्ययन किया। फिर कुछ दिनो तक अरावली की पर्वतश्रेणी मे आबू के गिरि-शिखर पर ही उसने आसन जा जमाया। इसके अनतर काफी समय तक हिमालय की दुर्गम चट्टानो से लोहा लेते हुए वह कठोर तप भी करता रहा। किन्तु इस पर भी जब उसे उपयुक्त प्रकाश न मिला, तो निराश हो वह पुनः मैदानो मे उतर आया। तभी हरद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि स्थानों का चक्कर काटता हुआ पडितो के पुरातन गढ काशी मे वह पहुँचा। पर वहाँ भी कोई उसकी उत्कट जिज्ञासा और मुक्ति की प्यास न बुझा सका।

सच तो यह था कि अब तक उसे अपने मन के उपयुक्त कोई गुरु ही न मिला था। उसके जैसे असामान्य सत्यशोधक के लिए तो उसी जैसे असाधारण पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी ! आखिरकार घूमते-भटकते वह काशी से मथुरा आया और वहाँ एक ककालवत् वृद्ध अध सन्यासी के चरणो मे उसने अपने आपको डाल दिया। अपनी अब तक की सारी छानबीन के बाद उसे केवल यही एक व्यक्ति ऐसा मिला था, जो सचमुच ही उसे राह बता सकता था। इस प्रज्ञाचक्षु दण्डी सन्यासी विरजानन्द सरस्वती के रूप में उसे यथार्थत. अपने अनुरूप गुरु और पथ-प्रदर्शक मिल गया। उसकी ही उँगली पकड़कर अत मे वह उस कल्याण-मार्ग का सफल पथिक बन सका, जिसके कि लिए घर-द्वार, स्वजन, आदि को ठुकराकर चुपके से उस दिन वह एकाकी घर से भाग निकला था !

गुरु-शिष्य की अनोखी जोड़ी

यह डेढ पसलियो का विकट साधु विरजानद अपने युग का एक अत्यन्त विलक्षण और असाधारण महापुरुष था। उसका अपना जीवन भी दयानन्द की अब तक की जीवनलीला से किसी अश मे कम रोमाचक न था ! वह अपने बचपन ही में मा-बाप के साथ-साथ आँखों की ज्योति भी खोकर एक निस्सहाय अनाथ हो गया था। परन्तु उस असहायावस्था में भी उसने अपनी दुर्द्धर्ष सकल्प-शक्ति, असामान्य बुद्धि और अदम्य साहस के बल पर, क्रमशः सस्कृत-व्याकरण जैसे दुरूह विषय पर प्रभुत्व प्राप्त कर, वेदो के विषय मे एक नवीन पाण्डित्यपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्थापित किया था ! वह वेदो की मौलिक शिक्षा ही को महत्त्व देता और मानता था, उनकी बाद की विविध सप्रदायमूलक व्याख्याओ को नही। इसी तरह पुराणो का वह घोर विरोधी था और उनके द्वारा पोषित बहुदेवोपासना, मूर्तिपुजा आदि बातो को खुलकर वह वेद-विरुद्ध एव अधार्मिक घोषित करता था। वह देश की वर्त्तमान धार्मिक पतनावस्था पर आँसू बहाया करता। वस्तुत एक ऐसे साहसी शिष्य की खोज में वह था, जो उसका सदेश सुनाकर दिन पर दिन बढते जा रहे पाखण्ड का डेरा-तबू उखाड़ फेके और फिर से इस पुण्यभूमि मे वेदो की पताका फहरा दे !

अतः जब विधाता ने अनायास ही युवक दयानन्द के रूप मे वह मनचाहा शिष्य उसके हाथों में ला सौपा, तो वृद्धावस्था के कारण जर्जर हो जाने पर भी इस अधे साधु ने जी-जान से अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार सस्कृत व्याकरण से लेकर वेदो तक की महती शिक्षा उसे देना शुरू किया ! किन्तु वह था एक अत्यन्त कठोर शासक और महाक्रोधी शिक्षक ! कहते है, कभी-कभी वह

साधारण-सी बात पर शिष्य को डडे से मार तक बैठता था ! पर दयानन्द गुरुकुल के प्राचीन आदर्श के अनुसार सब-कुछ सहन करते हुए तन-मन से गुरु की सेवा करते रहे और शिक्षाकाल की समाप्ति पर और कुछ न पा गुरुदक्षिणा के रूप मे केवल आधा सेर लौग ही लेकर विरजानन्द से अन्तिम विदा माँगने पहुँचे ! उस समय का दृश्य एक अत्यन्त कारुणिक साथ ही अति महान् दृश्य था। गुरु अपने इस महामेधावी शिष्य को इतने सस्ते दामो ही छूट जाने देने को तैयार नही थे। अतएव अपनी वास्तविक गुरुदक्षिणा के रूप मे इस कठोर प्रतिज्ञा का बोझ उन्होंने दयानन्द पर लाद दिया कि वह इस देश मे पुनः विशुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा कर कि-कर्त्तव्यविमूढ आर्य जाति को अपने पैरो पर खडा करने तथा ससार मे वैदिक ज्ञान-निधि का प्रचार करने के हेतु ही अपना जीवन उत्सर्ग कर दे।

कहने की आवश्यकता नही कि योग्य शिष्य ने इस कठिन गुरुदक्षिणा को चुकाने मे कहाँ तक अपना वचन निभाया। उन्होने गुरु से विदा लेने के कुछ ही वर्ष बाद सन् १८६७ ई० मे हरद्वार के महाकुम्भ के अवसर पर अपनी प्रख्यात 'पाखडखडिनी पताका' फहराकर, जिस दिन कुसस्कारग्रस्त आर्य जाति को पहले-पहल पुनरुत्थान का अपना मत्र सुनाया था, उस दिन से मृत्युपर्यन्त उनके जीवन का एक-एक क्षण उसी महाप्रतिज्ञा की पूर्ति के प्रयास मे ही बीता। अपने इस महासकल्प को पूरा करने के लिए कितनी लडाइयाँ उन्होने न लडी और क्या-क्या आपत्तियाँ न उठाई ? और तो और, इसी अनुष्ठान की वेदी पर अन्त मे उन्होने अपने प्राणो तक की आहुति चढा दी ! निश्चय ही आधुनिक युग मे जातीय उद्धार के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने का सबसे उज्ज्वल पाठ पहले-पहल यदि हमे किसी ने पढाया तो इस वीतराग सन्यासी महान् राष्ट्रधर्मी ऋषि दयानन्द ने ही !

आर्य धर्म का प्रतिपादन और देशभ्रमण

स्वामीजी ने अन्य सभी मत-मतान्तरो का खण्डन कर केवल वेदो की भित्ति पर प्रस्थापित प्राचीन आर्य धर्म का ही प्रतिपादन किया और इस उद्देश्य से आचार्य शकर की भाँति देश के अधिकाश भाग का भ्रमण कर उन्होने स्थान-स्थान मे विरोधियों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। यहाँ इतनी जगह नही कि हम उनकी उस विशद दिग्विजय-यात्रा का सुविस्तृत वर्णन दे सके। केवल यही भर कह देना पर्याप्त होगा कि पण्डितों के प्रधान पीठस्थान काशी से लेकर आधुनिक भारत की कलकत्ता और बम्बई जैसी महानगरियो तक जहाँ-जहाँ भी वह पहुँचे, वहाँ उन्होने अपनी निर्भीक आवाज से शत्रुओ का दिल दहला दिया और जनता मे एक नई जागृति पैदा कर दी। उनकी वेदों की व्याख्या अपने ढग की सबसे निराली होती थी। अपने सस्कृत-विषयक अगाध ज्ञान और व्याकरण के गूढ मर्म की सूक्ष्म जानकारी के बल पर वह वैदिक मत्रो का ऐसा अनूठा अर्थ प्रस्तुत कर देते थे कि प्रतिस्पर्द्धियो को हतप्रभ और श्रोताओ को चकित रह जाना पडता था ! वह पहले तो विशुद्ध सस्कृत ही मे बोलने और लिखने-पढने के अभ्यस्त थे। किन्तु बुद्ध की भाँति जब शीघ्र ही वह यह अनुभव करने लगे कि जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने का एकमात्र साधन जनबोली ही हो सकती है, पण्डितो की भाषा नही, तब से जन्म के गुजराती होते हुए भी उन्होने उत्तरी भारत की प्रधान बोली हिन्दी को ही अपनाकर उसी मे धाराप्रवाह रूप से भाषण देना, वादविवाद करना और अपनी अनेक कृतियाँ लिखना आरम्भ किया। इस तरह उनका नाम इस देश के धार्मिक क्षेत्र मे घर-घर की वस्तु बन गया।

एक नवीन सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात

किन्तु जहाँ इस देश की पीडित त्रस्त मानवता ने उन्हे अपना एक नवीन त्राता और उद्धारक मानकर स्थान-स्थान मे उनके लिए पलक-पाँवडे बिछाए और साधारण जनो से लेकर अनेक बडे-बड़े राजा-महाराजा तक उन्हे गुरुभाव से पूजने लगे, वहाँ कुछ स्वार्थान्ध अविद्याग्रसित दुष्ट जनो ने उन्हे अपनी आँखो का खटकनेवाला काँटा समझकर नीचतापूर्वक उन पर पत्थर भी बरसाए और विष देकर अथवा अन्य साधनो द्वारा उन्हे मार डालने तक का प्रयास किया ! पर उस महान् सन्यासी ने उनके प्रति सदैव क्षमा-भाव ही रक्खा। इसी प्रकार प्रतिस्पर्द्धियो ने शास्त्रार्थो और विवादो मे कई बार उसके हाथो मात खा चुकने पर भी प्रायः हार स्वीकार न की और उल्टे उसी पर कीचड उछाला, फिर भी यह महापुरुष अपने सत्पथ से विचलित नही किया जा सका ! उसने पडितो के गढ काशी

में ही हजारों दर्शकों की उपस्थिति में, सुप्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द के नेतृत्व में शास्त्रार्थ करने के लिए आगे आनेवाले लगभग तीन सौ उद्भट पडितो से अकेले ही हाथ लोहा लेकर, अपने पूर्व-गामी राजा राममोहनराय की भाँति निर्भीक स्वर मे मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, आदि को मूल भार-तीय धर्म के विरुद्ध घोषित करते हुए समाज मे प्रचलित अध प्रथाओ पर एक सच्चे सस्कारक की तरह जोरो से प्रहार किया। इसी तरह जातिगत ऊँच-नीच सबधी भावनाओ की जड उखाडने के सत्कार्य से लेकर शिक्षा-प्रसार, बालविवाह-निषेध, स्त्रियो के पुनरुद्धार आदि विविध राष्ट्रहितमूलक सुधारो की ओर भी खुलकर उसने अपना हाथ बढाया! वस्तुत: भारतीय समाज को एक ही सूत्र मे सगठित करने के महान् अनुष्ठान के उद्गाता इस प्रखर सन्यासी का ढग ऐसा निर्भीक था कि विरोधियो के लाख हाथ-पैर पटकने पर भी उसका दुर्द्धर्ष तेज किसी के दबाए न दबाया जा सका! उसने इस देश के धर्म-आँगन मे एक व्यापक क्रान्ति का सूत्र-पात कर दिया, जिसने कालान्तर मे हमारे जीवन के अन्य अगो को भी हिलाने मे परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से अमूल्य सहायता दी। निश्चय ही राममोहनराय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे धर्मनेताओ द्वारा प्रज्वलित चिन-गारियो ही ने आगे चलकर उस सर्वतोमुखी प्रखर क्रान्ति की लपट को जन्म दिया, जिसने आधुनिक भारत के कलेवर मे फिर से एक विद्युत्चेतना का सचार कर दिया!

दयानन्दकृत वेद-भाष्य

राममोहनराय की तरह ऋषि दयानन्द ने भी सार्वजनिक क्षेत्र मे आते ही अपने देश की प्राचीन ज्ञान-निधि की ओर जनसाधारण का ध्यान खीचने और उसका यथार्थ तत्त्व ससार को समझाने का महत्त्व और मूल्य परखा। इसी उद्देश्य से अगाध परिश्रम करके उन्होने स्वय ही अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से जनवाणी हिन्दी मे वेदो का भाष्य प्रस्तुत करने का महान् बीडा उठाया! किन्तु हमारे दुर्भाग्य से केवल पूरी यजुर्वेद-सहिता और ऋग्वेद-सहिता के आरभिक सात मडलो तथा अन्य कुछ अशों का ही भाष्य वह प्रस्तुत कर पाए—शेष कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण ज्यों-का-त्यों अपूर्ण पडा रह गया। उनके इन वेद-भाष्यों में ऋषि, देवता, छन्द और पदच्छेद सहित मूल मत्रों के साथ-साथ सस्कृत मे पदो के प्रमाणयुक्त अर्थान्वय और पदयोजना के बाद अन्त मे हिन्दी में भावार्थ दिया गया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है निरुक्त की विधि से मत्रो के शब्दों के यौगिक अर्थ की वह व्याख्या, जिसके द्वारा कई स्थलों पर सायण आदि पूर्वगामी भाष्यकारों से एकदम पृथक् अर्थ प्रस्तुत करने का दुरूह प्रयास उन्होने किया है। उनका यह प्रयत्न कहाँ तक सही था, यह विद्वानो की दृष्टि मे एक विवाद का विषय है। किन्तु वेदों-सबधी उनके अगाध ज्ञान तथा उनके उद्देश्य की सच्चाई के विषय मे शायद ही कोई उँगली उठा सकता है। साथ ही आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व राष्ट्रभाषा हिन्दी मे, जिसे कि वह गर्व के साथ 'आर्य भाषा' कहकर पुकारते थे, इन महान् ग्रथो का अनुवाद प्रस्तुत करके उन्होने जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया था, उसकी महत्ता को भी कौन अस्वीकार कर सकता है?

'सत्यार्थप्रकाश' और अन्य रचनाएँ

वेदो के इन भाष्यो के अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियाँ 'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'वेदागप्रकाश', 'सस्कार-विधि', 'आर्याभिविनय', 'पच-महायज्ञ-विधि', 'गोकरुणानिधि', तथा कई एक खण्डन-मण्डनात्मक अन्य छोटी-बडी पुस्तक-पुस्तिकाएँ है। इनमे 'सत्यार्थप्रकाश' उनके विचारों का प्रतिपादन करनेवाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस पुस्तक में प्रथम दस समुल्लासो (अध्यायो) मे क्रमशः परमेश्वर के नाम-गुण, माता-पिता और सतान के परस्पर कर्त्तव्य, शिक्षा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आदि आश्रमो के धर्म, राजधर्म, वेद और ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, विद्या-अविद्या, मोक्ष-बन्धन, आचार-अनाचार आदि का विशद विवेचन है। उसके अन्तिम चार प्रकरणों में संसार के विभिन्न मतों की (जिनमे बौद्ध, जैन, ईसाई और इस्लाम मत भी समिलित है) खण्डनात्मक आलोचना है। यह सपूर्ण ग्रथ हिन्दी ही मे है और उसके अन्त मे 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' शीर्षक से उन्होने एक परिशिष्ट भी दिया है, जिसमें कि उनके अपने व्यक्तिगत मत विशेष का एक प्रकार से

साराश-सा आ गया है। इस ग्रन्थ के कारण समय-समय पर धर्म के क्षेत्र में काफी कटु विवाद उठा है और उसमें अन्य मत-मतान्तरो की जो अति उग्र आलोचना की गई है, उस पर विशेष रूप से अनेक आपत्तियाँ उठाई गई है। इसमे सदेह नही कि इस ग्रथ का यह आलोचना-भाग अत्यन्त कटु हो गया है और कही-कही पर उसमे केवल वितण्डावाद की-सी ध्वनि सुनाई देने लगती है। परन्तु इसका बहुत-कुछ दोष उम युग के धर्म-विवादो मे अधिकतर प्रयोग मे लायी जानेवाली उस ध्वसात्मक शैली ही के मत्थे मढा जाना चाहिए, जो कि अन्य मत-मतान्तरो पर आक्रमण करने मे अग्रणी विदेशी ईसाई मिशनरियो के हाथो मे पडकर और भी अधिक कटु बन गई थी। वस्तुतः दयानन्द का उद्देश्य किसी भी मत-मतान्तर पर अनुचित आक्रमण करके धार्मिक क्षेत्र मे अकारण व्यर्थ की कटुता बढाने का न था। वह तो केवल असत्य का भडा फोड़कर सत्य मार्ग की ओर सकेत करने के लिए ही मबसे अधिक उत्कठित थे। वह जहाँ विविध धर्मो की बुराइयो से किनारा कसने का उपदेश देते थे, वहाँ साथ ही साथ उनकी अच्छाइयो को अपनाने के लिए जी खोलकर प्रोत्साहन देने मे भी तो किसी से पीछे नही हटते थे! यह बात 'सत्यार्थप्रकाश' के अत मे लिखित उनके निम्न वाक्यो से स्पष्ट हो जाती है—"मेरा कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नही है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोडना-छुड़वाना ही मुझको अभीष्ट है।" निश्चय ही इन शब्दो मे हमे उस महान् सुधारक के व्यापक दृष्टिकोण एव उसके उद्देश्य की मच्चाई का समुचित प्रमाण मिल जाता है।

'आर्य समाज' की स्थापना

सन् १८७२ ई० के दिसम्बर मास मे स्वामीजी घूमते-फिरते भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ते पहुँचे। वहाँ उन्होने अपने युग के धर्म के क्षेत्र के अन्य तीन प्रमुख भारतीय महापुरुषो—रामकृष्ण परमहस, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन—से भेट की। केशवचन्द्र के नेतृत्व मे 'ब्राह्म समाज' ने उनका हृदय से स्वागत किया और अपने कार्य मे सहयोग की आशा से उनकी ओर भ्रातृत्व का हाथ बढ़ाया। किन्तु दयानन्द की उनके साथ पटना कठिन था। कारण वह पाश्चात्यीकरण के घोर विरोधी थे और केवल वेदो की भित्ति पर प्रस्थापित विशुद्ध आर्य धर्म ही के प्रबल उपासक थे, जब कि केशव के नेतृत्व मे ब्राह्म समाज अधिकाधिक ईसाइयत और पश्चात्य विचारो की ओर ही झुकता चला जा रहा था। वस्तुतः इस दिन पर दिन बढते चले जा रहे पश्चिम के हानिकर प्रभाव और ईसाई मत की ओर कुछ शिक्षित लोगों के खतरनाक झुकाव को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रोकने के लिए, एक निश्चित सुसगठित प्रयास करने की आवश्यकता अब दयानन्द को दिखाई देने लगी थी। वह एक ऐसी धर्म-वेदी की सस्थापना करने के लिए उत्कठित थे, जो वेदो की नीव पर फिर से आर्य धर्म का झडा खडा करके सारे देश को क्रमशः एक ही धर्मसूत्र मे बाँध दे, साथ ही इस महाराष्ट्र की मूल सस्कृति को भी ज्यो-की-त्यो अक्षुण्ण बनाए रख सके। उनका यह विचार वर्षो से उनके अतस्तल मे उमड़-घुमडकर स्थूल रूप मे मूर्तिमान होने के लिए उचित मौका ढूँढ रहा था। अत मे वह सुअवसर भी आ पहुँचा और दो वर्ष बाद बबई मे १० अप्रैल, सन् १८७५ ई०, के दिन अपने सबसे महान् स्मारक 'आर्य समाज' की नीव डालकर उन्होने उस धर्म-वेदी की प्रस्थापना कर दी, जिससे कि आज के दिन सब कोई परिचित है।

दस नियम

इस सस्था के विधान के रूप मे स्वामीजी ने आरभ मे २८ मूल धर्म-नियम निर्धारित किए थे, किन्तु १८७७ ई० मे लाहोर मे 'समाज' की प्रस्थापना के उपरान्त उनमे उचित सशोधन कर केवल निम्न १० नियम ही बाँध दिए गए, जो कि तब से 'आर्य समाज' की इमारत की मुख्य आधारशिला बने हुए है:—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ उक्त विद्या से जाने जाते है, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

३. वेद सब विद्याओ के आदि ग्रथ है। वेदो का पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्यो का परम धर्म है।

४. सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।

६. ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति मे सतुष्ट न रहना चाहिए, वरन् सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझना चाहिए।

१०. सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतत्र रहना चाहिए और प्रत्येक वैयक्तिक हितकारी नियम के पालन मे सब स्वतत्र रहे।

प्रचार और संगठन

इन दस प्रधान नियमो के अलावा 'समाज' की रचना, शासन-व्यवस्था, उपासना-विधि आदि के सबध मे कुछ उपनियमो तथा प्रजासत्तात्मक सिद्धान्तो पर निर्धारित एक मोटे-से विधान का भी निर्माण साथ ही साथ कर दिया गया, ताकि यह सस्था एक सच्ची जन-प्रतिनिधि अनुशासनबद्ध धर्मवेदी का स्वरूप ग्रहण कर सके। कहने की आवश्यकता नही कि इस महान् सस्था की प्रस्थापना के बाद सन् १८७७ ई० से १८८३ ई० तक स्वामीजी के जीवन के अतिम छ:-सात वर्ष उसका सुदृढ सगठन करने ही मे व्यतीत हुए। उन्होने देश के विभिन्न भागो मे भ्रमण कर स्थान-स्थान में उसके केन्द्र और उपासना-मदिर प्रस्थापित कर दिए, ताकि उसके मच पर से धर्म, समाज और सुधार सबधी उनके विचारो का प्रचार होता रहे और उनके बाद भी वैदिक धर्म की पताका फहराती रहे। इस कार्य मे उन्हे सबसे अधिक सफलता पजाब, उत्तर प्रदेश और राजस्थान मे मिली। शीघ्र ही उत्तरी भारत के अनेक बडे-बडे नगरो मे आर्य समाज के मदिरो की वेदिकाएँ निर्मित हो गई, जहाँ सप्ताह में एक बार नियमित रूप से वेदपाठ, मत्र-स्तवन और हवन आदि के साथ एक ही अनत अनादि परमेश्वर की आराधना-उपासना का एक नया क्रम देखने को मिलने लगा। इन प्रार्थनाओ मे जातिगत भेदभाव का कोई अटकाव नही था, अतएव क्रमश: सभी वर्ग के लोग उनमे सम्मिलित होकर 'आर्य धर्म' के झडे के नीचे आने लगे। उधर 'समाज' द्वारा प्रवर्तित शुद्धि की प्रथा ने अन्य धर्मावलम्बियो के लिए भी उसका द्वार खोल दिया।

इस जनसस्था ने अपनी अनगिनत सेवाओं द्वारा देश के पुनर्जागरण के यज्ञ में महान् हाथ बँटाया। निद्राग्रस्त आर्य जाति की आँखे खोलने में उसने सबसे प्रबल योग दिया। उसके शुद्धि, सगठन, शिक्षा-प्रसार, अछूतोद्धार, बालविवाह-निषेध, विधवा-विवाह-प्रचार, आदि अनुष्ठानो से हिन्दू जाति को ईसाई मिशनरियो और इस्लाम के प्रहारो से अपनी रक्षा करने में बहुत बडी मदद मिली। देश की आजादी के लिए भी समय-समय पर सैनिको को तैयार कर एव राष्ट्रयज्ञ के लिए सबसे आगे बढकर आहुतियाँ दे इस सस्था ने मातृभूमि का भरपूर ऋण चुकाया। इसके पूरे विवरण के लिए तो पिछले पचहत्तर वर्ष के उसके घटनापूर्ण इतिहास के साथ-साथ आधुनिक भारत के विगत अर्द्ध-शताब्दी के समूचे व्यापक इत्तिवृत्त पर एक विहगम दृष्टि डालने की आवश्यकता है। इसी सस्था से हमे लाजपतराय और श्रद्धानन्द जैसे महान् लोकनेता और गुरुकुल काँगडी-जैसी अद्वितीय शिक्षण-सस्था का उपहार मिला। उसने ही अध कुप्रथाओ के विरुद्ध अनवरत सग्राम छेडकर हिन्दू समाज को पुनर्संस्कार के लिए तैयार करने मे इस युग मे सबसे अधिक रक्तदान दिया! और यह सब-कुछ था उस महान् युगस्रष्टा नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वाधीन-चेता ऋषि दयानन्द के ही बीजारोपण का सुफल, जो आधुनिक भारत के अन्य एक दिव्य तपस्वी योगिराज अरविन्द घोष के शब्दो में 'परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि का एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय सस्थाओ का सस्कार करनेवाला एक अद्भुत शिल्पी था!'

बलिदान और अंत

सन् १८८३ ई० के अतिम दिनो में मारवाड़-नरेश का आमत्रण पाकर स्वामीजी उपदेश के लिए

जोधपुर पहुँचे और वहाँ राज्य के अतिथिगृह में टिक-कर कई दिनों तक हजारो नरनारियों की उपस्थिति मे नियमित रूप से नित्य धर्मप्रवचन करते रहे । इन्ही दिनो की बात है कि उनके कतिपय विरोधियो और एक दुष्ट वेश्या के षड्यत्र से, जिसके साथ महाराजा के अनुचित सबध पर स्वामीजी ने घोर विरोध प्रकट किया था, उन्हे गुप्त रीति से घातक विष पिला दिया गया, जिससे उन्हे एक प्राणान्तक व्याधि लग गई ! महाराजा साहब ने उनका उप-चार कराने के लिए भरसक परिश्रम किया, परतु कोई लाभ न हुआ । अन्त मे वह उसी हालत मे अजमेर लाये गए और वही सवत् १९४० वि० की दीपावली (३० अक्टूबर, सन् १८८३ ई०) के दिन इस नश्वर शरीर को त्याग कर उन्होने महानिर्वाण प्राप्त कर लिया । इस प्रकार आधुनिक भारत के उस अद्वितीय ऋषितुल्य राष्ट्र-निर्माता के रोमाचक जीवन-नाटक का अन्तिम यवनिकापात हुआ, जो उन्नीस वर्ष की आयु मे ही गौतम बुद्ध की भाँति घर से निकला तो था स्वय अपनी ही मुक्ति की खोज मे, किन्तु शीघ्र ही अपना निजी सुख-दुख भुलाकर जो समस्त जाति और राष्ट्र ही के मोक्ष के प्रश्न को अपना एकमात्र प्रश्न बना बैठा और जीवनभर उसी के समाधान के प्रयास मे जूझते हुए अत मे उसकी ही बलिवेदी पर निछावर तक हो गया !

दयानन्द की देन

राममोहनराय की भाँति दयानन्द भी मूलत: एक धर्म-सस्कारक ही थे, परन्तु उनका व्यापक प्रभाव धर्म के साथ-साथ हमारे राष्ट्र के अन्य अगो पर भी पडे बिना न रह सका । उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज ने कालान्तर मे इस देश मे स्वराज्य' का नारा बुलन्द करने मे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से मूल्यवान् योग दिया । वह पश्चिम के प्रभाव और पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से मुक्त विशुद्ध आर्य सस्कृति ही की उपज थे । अतएव भारतीय सस्कृति के मूल आदर्शों की पुन-र्स्थापना के कार्य मे जो प्रेरणा उन्होने हमे दी, वह दूसरा कोई न दे पाया । वस्तुत: उनका काम हमारे आगे आनेवाले सर्वाङ्गीण राष्ट्रीय सग्राम के लिए अग्रिम रणशिविर तैयार करने का था और यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नही कि इस कठिन कार्य को एक महान् सेनानी की भाँति उन्होने कितनी खूबी के साथ पूरा कर दिखाया । उनकी अपनी यह धारणा थी कि जिस जाति और राष्ट्र को अपने अतीत का अभिमान न हो, उसका भविष्य उज्ज्वल नही हो सकता । इसीलिए उन्होने अपने देश की गौरवपूर्ण पुरातन कमाई के प्रति फिर से गर्व और सम्मान का भाव जागरूक करने तथा मूल भारतीय परपरा मे बाद को घुल-मिल जानेवाली अनैसर्गिक धाराओ के प्रभाव को झाड़-बुहारकर दूर करने के महत्कार्य के हेतु ही अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया !

उन्होने मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना, अधरूढिवादिता, अशिक्षा, परदा-प्रथा, बाल-विवाह, छुआछूत, आदि विविध कुसस्कारजनित कुरीतियो पर जमकर प्रहार किया और 'आर्य समाज' के रूप मे तो एक चिर स्थायी मोर्चा उन्होने इन सबसे लोहा लेने के लिए इस देश में खडा कर दिया ! राममोहनराय की तरह उन्होने भी स्त्रियो के उत्थान के लिए जोरो से अपनी आवाज उठाई और उनको समान अधिकार देने के लिए समाज को प्रेरित किया । उन्होंने विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अतर्जातीय विवाह आदि का जी खोलकर समर्थन किया, और स्त्रियो के लिए मातृत्व-प्राप्ति ही परम धर्म तथा विवाह का एक-मात्र ध्येय उद्घोषित कर विशेष परिस्थितियो मे 'नियोग' द्वारा सतान उत्पन्न करने की प्राचीन प्रथा तक का अनुमोदन उन्होने किया !

इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियो को, विशेषकर उन लोगो को जो कि विवशता मे अपने धर्म से बिछुड़कर ईसाई या मुसलमान बन गए थे, शुद्ध करके 'आर्य धर्म' मे सम्मिलित कर लेने की उनकी साहसपूर्ण नीति ने भी इस देश के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे एक नवीन क्रान्ति का स्वर जगाया ! तात्पर्य यह है कि हर दृष्टि से वह हमारे एक महान् युग-निर्माता राष्ट्र-नायक थे । उनकी क्रान्तदर्शिता का इससे बढकर और क्या प्रमाण हो सकता है कि जो प्रश्न आज के दिन हमारे मस्तिष्क मे लगातार उमड-घुमड़कर समाधान की राह खोज रहे है—जैसा कि राष्ट्र-भाषा विषयक प्रश्न—उनके प्रति आज मे सत्तर-पचहत्तर वर्ष पूर्व ही वह रचनात्मक प्रयास के रूप मे काफी ठोस कदम बढा चुके थे ! और तो और, देश के भविष्य को मानो पहले ही से पहचानकर आर्थिक दृष्टि से

औद्योगीकरण और यंत्रो के अधिकाधिक प्रयोग की आवश्यकता तक के पक्ष मे उन्होने अपनी आवाज बुलन्द की थी ! तो फिर किस प्रकार हम उस ऋषि की क्रान्तदर्शिता और उसके प्रति अपने अगाध ऋण का सही-सही अनुमान करे ? निश्चय ही उसने अपने अमोघ मत्रो का दान देकर युग-युग के लिए हमें फिर से कगाल से धनी बना दिया !

दयानन्द के महान् उत्तराधिकारी श्रद्धानन्द

स्वामीजी के बाद आर्य समाज की वृद्धि और विकास करने तथा उनके द्वारा आरभ किए गए महान् कार्य को आगे बढ़ाने मे जिन्होंने सबसे अधिक योग दिया, उनमे इस जनवेदी के आगे आनेवाले प्रमुख नेता प० गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), लाला लाजपतराय, महात्मा हसराज, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण नाम निस्सदेह महात्मा मुशीराम अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द का है, जिनका आर्य समाज के इतिहास में वही स्थान है, जो काग्रेस के इतिहास मे महात्मा गाधी का है । गाधीजी ने ही काग्रेस को पहले-पहल एक बृहत् वादविवाद-समिति की स्थिति से उबारकर स्वातत्र्य-सग्राम के एक सच्चे रणशिविर मे परिणत कर दिया था तथा देश के सर्वतोमुखी उत्थान के दायित्व का काँटो का ताज पहनाकर कोरे स्वप्न देखने के बजाय रचनात्मक रूप से कुछ करने-धरने के लिए उसे सबल रूप से प्रेरित किया था । उसी प्रकार श्रद्धानन्द ने भी गुरुकुल-कॉगडी जैसी अद्वितीय आदर्श शिक्षण-सस्था की प्रस्थापना कर तथा आर्य जाति को अपनी वर्तमान शिथिलावस्था की दयनीय स्थिति से ऊपर उठाने के हेतु उसके कानो मे सगठन का मत्र फूँककर, सप्ताह मे एक बार हवन-प्रार्थना करनेवाली धर्म-सुधारक-मडली मात्र बने रहने के बजाय आर्य समाज को देश और जाति के पुनरुत्थान के एक सबल मच में बदल देने का ऋषि दयानन्द के बाद सबसे जोरदार प्रयास किया था !

उनके महान् त्याग और अपने सदुद्देश्य के प्रति उनकी लगन की सच्चाई का इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहिए कि अपने इस अनुष्ठान की सिद्धि के हेतु उन्होने अपना सर्वस्व त्याग कर संन्यासी का चोला धारण कर लिया और शुद्धि तथा संगठन के एक प्रबल आन्दोलन का प्रवर्त्तन कर, अत मे उसकी ही वेदी पर अपने प्राणों तक की आहुति चढा दी ! श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व आर्य समाज के इतिहास मे उसके प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के बाद सबसे बड़ा व्यक्तित्व है । वह एक सच्चे कर्मयोगी और लोककल्याण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देनेवाले एक बेजोड़ नेता थे । यह हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात थी कि एक धर्मान्ध हत्यारे की छुरी के शिकार होकर वह सन् १९२६ ई० के दिसबर मास मे सदा के लिए हमारे बीच से उठ गए । अन्यथा आज के दिन उनके महान् व्यक्तित्व, अद्भुत साहस और जाति-कल्याण की उनकी उत्कट लगन के द्वारा हमे एक अद्वितीय नेतृत्व का लाभ मिलता । कारण, वह कोरे धर्म अथवा समाज-सुधार के क्षेत्र ही के व्यक्ति न थे—वह हमारे एक सच्चे राजनेता भी थे, जैसा कि सन् १९१९-२० के पजाब के दमन के जमाने मे प्रदर्शित उनके साहस-पूर्ण रवैये से स्पष्ट था ।

'आर्य समाज' की सेवाएँ

स्थानाभाववश हम यहाँ आर्य समाज की पिछली अर्द्धशताब्दीव्यापी महान् सेवाओ का सुविस्तृत विवरण देने मे असमर्थ है । केवल यही भर सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द के निधन के बाद से उसका मोर्चा उपयुक्त नेतृत्व के अभाव मे एक प्रकार से ठंडा-सा पड गया है और इन दिनो उसकी वह धूम नही है, जो स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित महान् शुद्धि-सगठन के आन्दोलन के समय थी, फिर भी इस विशाल सस्था की लगभग डेढ हजार विभिन्न शाखाएँ आज भी स्थान-स्थान में प्रस्थापित है और उसके द्वारा विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि-सस्कार आदि के रूप मे निरतर सुधार-सगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है । अनेको बड़े-बडे कॉलेज, स्कूल और गुरुकुल उसके तत्त्वावधान मे शिक्षण-कार्य कर रहे है और उसकी बलिवेदी पर समय-समय पर अब भी श्रद्धानन्द और लेखराम की तरह कितने ही रत्न अपनी आहुतियाँ देते चले जा रहे है ।

कहना न होगा कि अभी आर्य समाज के इतिहास का अतिम अध्याय नही पहुँच पाया है—उसे वस्तुतः आवश्यकता है एक और महान् नेता की ! और वह भी कभी आएगा ही, क्योंकि उसका खेत अब भी उर्वर है, वह ऊसर नही हो पाया है !

रामकृष्ण

बंग देश के हुगली जिले मे रेल की सडक से लगभग पचीस मील दूर, ताड और आम के वृक्षो तथा धान के खेतो की हरियाली मे छिपा हुआ एक छोटा-सा गाँव है—कामारपुकुर। यही आज से सवा सौ वर्ष पूर्व १८ फरवरी, सन् १८३६ ई०, के दिन ब्राह्म मुहूर्त्त में एक निर्धन किन्तु निष्ठावान् ब्राह्मण खुदीराम चट्टोपाध्याय की कुटिया मे आधुनिक भारत के एक महाप्राण युगपुरुष ने जन्म लिया था, उसकी तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो केवल अपने उन वैदिककालीन क्रान्तदर्शी ऋषियो अथवा मध्यकालीन महान् भक्त सत पुरुषों से ही, जिन्होने अपनी आत्म-वीणा में विश्व-विपञ्ची के निगूढतम स्वरों का अनुसधान कर हमें मर्त्य से अमृत स्थिति प्राप्त करने का दिव्य पथ सुझाया था! विश्व-साहित्यकार रोम्या रोलाँ के शब्दों मे—'यह महापुरुष भारत के तीस कोटि नर-नारियो की दो सहस्राब्दिव्यापी आध्यात्मिक तपस्या के चिरवांछित वरदान के रूप में प्रकट हुआ था!' वह था मानो इस वृद्धकाय महादेश का आडे दिनो के लए सचित एक अमूल्य पुण्यफल! वह मानो दूसरा दधीचि था, जिसने अपने महान् तप का सार अर्पित कर भौतिकवाद की भूलभूलैया मे लडखडाते हुए मानव को पुनः पार्थिव धरातल से एक स्तर ऊपर उठने के लिए नवीन बल प्रदान कर दिया। उसने हमें फिर मे उस शाश्वत टोह की याद दिला दी, जिसकी पुकार ने दो हजार वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के एक करुणार्द्र राजकुमार को सब-कुछ ठुकराकर आधी रात को विजन की राह लेने के लिए विवश कर दिया था! वह था महावीर, बुद्ध, सुकरात, चैतन्य और सत फ्रान्सिस जैसी विश्व विभूतियों की कोटि का एक महासाधक, जिसकी महानता उसकी तपोमय जीवन-साधना ही में निहित थी, कोरे दिमागी तर्क-वितर्क और सूखे बुद्धिवादी विचार-मथन मे नही। यह हमारा परम सौभाग्य था कि वह हमारे राष्ट्रीय इतिहास के एक अत्यन्त सकटपूर्ण सक्रातिकाल मे पैदा हुआ! उसने

सशय, अश्रद्धा और पारस्परिक मतभेद के अध-कूप की ओर लुढकते जा रहे ससार को, और विशेषकर इस देश को, फिर से सब धर्मों की मूल-भूत एकता, ईश्वर की अलौकिक सत्ता एव आध्या-त्मिक जीवन की महत्ता मे विश्वास जमाने की सबल प्रेरणा दी और निर्गुण-सगुण, एक-अनेक, मूर्त-अमूर्त, सभी का मूल्य बतलाकर हमे समन्वय का एक असामान्य पाठ पढ़ाया।

कितने अचरज की बात थी कि इस सीधे-सादे पगले-जैसे ग्रामीण पुजारी ने न तो कभी किसी ऊँचे दर्जे के स्कूल, कॉलेज या विश्व-विद्यालय मे शिक्षा पाई, न किसी पुस्तकालय की पोथियाँ ही उलटी-पलटी ! न दूर-दूर देशो का भ्रमण-पर्यटन किया, न लम्बे-चौडे व्याख्यान दिए ! न पाडित्य बघारा और न पुस्तक-पुस्तिकाये ही लिखी ! फिर भी उसने दिग्गज तार्किकों तक को श्रद्धा की राह पर ला दिया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी आभा फैला दी ! निश्चय ही यह उसकी अलौकिक सिद्धि और जन्मजात महानता का ही प्रकाश था।

वस्तुतः धर्म और सस्कृति के विभिन्न पहलुओ मे एकता का सत्य खोज निकालने तथा मानव को देवत्व की कक्षा तक ऊँचा उठा ले जाने का जैसा सफल प्रयास इस अद्भुत सत—परमहस रामकृष्ण—ने किया, कम-से-कम इस युग मे दूसरा शायद ही कोई कर पाया हो ! और यदि उसकी अन्य देनो को हम क्षण भर के लिए भूल भी जाएँ, तो यही क्या कम महत्त्व की बात है कि उसी से हमे विवेकानन्द जैसा महान् जननायक और शिक्षागुरु प्राप्त हुआ ! रामकृष्ण एक महात्मा ही नही, वह इस देश के एक सच्चे युग-निर्माता भी थे। उनसे जो-जो स्थायी वरदान हमने पाए, उनका सपूर्ण मूल्य आँकने के लिए अभी हमे अपने विकासक्रम की कई सीढियाँ लाँघना होगी !

अद्भुत अलौकिक बालक

रामकृष्ण के जीवन के आरम्भिक सोलह वर्ष कोई विशेष घटनापूर्ण नही कहे जा सकते, यद्यपि यह सच है कि इन आरम्भ के दिनो ही मे उनके उस असामान्य भावावेग और लोकोत्तर आवेश के लक्षण स्पष्ट हो चले थे, जिससे आगे चलकर उनका सारा जीवन परिप्लावित हो गया। कहते है, जब वह छः या सात वर्ष ही के थे, तभी एक दिन आसपास के धान के खेतो में घूमते-फिरते समय अचानक सामने आकाश मे छा जानेवाली एक काली घटा और उसके सन्मुख उड़कर जाते हुए श्वेत बगुलो की पक्तियो के सुहावने दृश्य को देखकर अलौकिक ढंग से आनन्द-विभोर हो गए थे वह समाधिस्थ हो वही धरती पर गिर पडे थे और गाँववालो को उठाकर उन्हे उनके घर पहुँचाना पड़ा था ! इसी तरह एक और अवसर पर किसी धार्मिक स्वाँग मे शिव का अभिनय करते समय भी इस अद्भुत बालक की कल्पना उसे अपने मनो-राज्य की ऊँची भूमिका तक उड़ा ले गई थी। वह सचमुच ही अपने आपको शिव मानकर उस अनुभूति की अवस्था मे ज्यो-का-त्यो थकित-चकित सा लगभग तीन दिन तक बेसुध पड़ा रह गया था !

उसका यह अलौकिक असामान्य बर्त्ताव देखकर जहाँ गाँव के अन्य लोगो को केवल विस्मय ही होता, वहाँ साथ ही उसके माता-पिता को अत्यधिक चिन्ता भी होने लगती ! उसे पढने-लिखने का विशेष अनु-राग न था, यद्यपि उसकी बुद्धि कुठित न थी। उसे तो बचपन ही से यदि किसी बात की अभिरुचि थी तो केवल धार्मिक क्रिया-कलापो की ही—वही उसका खेल-कूद था ! प्राय. वह गाँव के कुम्हारो से देवी-देवताओ की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना सीखा करता अथवा अपनी उम्र के लड़को को जुटाकर किसी पौराणिक कथा के नाट्याभिनय का खेल रचा करता। उसे गाँव के पास मे निकलने-वाले तीर्थ-यात्रियो और साधु-सन्यासियो की सेवा करने तथा उनकी सगति मे समय बिताने का विशेष चस्का था। वह बड़े ध्यानपूर्वक उनके भजन-गीत, धर्म-सवाद, कथा-वार्त्ता आदि सुनता और स्वय भी भक्ति-रस से सने हुए गीत गा-गाकर गाँववालो को विमुग्ध किया करता था। इस प्रकार आस-पास के गाँवो मे दूर-दूर तक वह एक अलौकिक बालक के रूप मे प्रख्यात हो चला था और स्वय अपने ही गाँव मे तो प्रत्येक घर का वह मानो दुलारा ही बन गया था !

कामारपुकुर से दक्षिणेश्वर

इस अनोखे व्यक्ति का बचपन का नाम था 'गदाधर', यद्यपि आज के दिन सब कोई उसके बाद को मशहूर होनेवाले नाम 'रामकृष्ण' ही से उसका उल्लेख करते है। कहते है, जब गदाधर

की उम्र केवल सात वर्ष की थी, तभी उसके पिता इस लोक से चल बसे थे। परिवार की आर्थिक परिस्थिति, जो पहले ही कोई बहुत अच्छी न थी, तब से और भी अधिक बिगड़ चली, और कुछ ही दिनों मे वह इस हद तक गिर गई कि खाने-पीने के भी लाले पड़ने लगे। अन्त मे सबसे बडे लडके रामकुमार ने कलकत्ते जाकर एक छोटी-सी सस्कृत-पाठशाला खोल ली और १८५२ ई० के लगभग वही उसने अपने छोटे भाई गदाधर को भी बुला लिया।

इस समय गदाधर की उम्र सत्रह वर्ष की थी और किशोरावस्था को लाँघकर वह युवावस्था के द्वार पर आ खडा हुआ था। परन्तु अब भी वह बच्चो जैसा ही था। न तो उसने अब तक विशेष शिक्षा पाने का ही कोई प्रयास किया था, न धन-दौलत, पाडित्य आदि के द्वारा सासारिक उत्कर्ष प्राप्त करने की ही अभिलाषा उसके मन मे जग पाई थी! वह था एक ठठ देहाती युवक, जो अपनी बालोचित सरलता, असाधारण भावुकता और सासारिक विषयो के प्रति सुस्पष्ट अनासक्त भाव के कारण साधारण जनो की निगाह मे निरे एक पगले-जैसा लगता था! बडे भाई ने तो उसे पढाने-लिखाने का भरपूर प्रयास किया, किन्तु इस काम मे उसका तनिक भी जी न लगा! उसे तो मन-ही-मन एक अनोखी प्यास सता रही थी। वह सासारिक धरातल से ऊपर उठकर इस दृश्य प्रपच से परे के अमरलोक मे जा बसने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। आखिर एक दिन उसने बड़े भाई से स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि मुझे रोटी कमाने की कोई विद्या नही सीखना है, मेरा तो लक्ष्य केवल भगवान् को प्राप्त करना है।

और विधि की कृपा से शीघ्र ही उसे अपने मन के अनुकूल उपयुक्त कार्यक्षेत्र भी मिल गया—वह बन गया एक काली-मन्दिर का प्रधान पुजारी। बात यो हुई कि सन् १८५५ ई० मे रामकुमार को कलकत्ते से चार मील दूर दक्षिणेश्वर मे रानी रासमणि नामक एक धनाढ्य और धर्मपरायण महिला द्वारा प्रस्थापित एक नवीन काली-मदिर के मुख्य पुजारी का पद प्राप्त हो गया। फलतः गदाधर को साथ लेकर उसने कलकत्ते से उठकर वही अपना डेरा-आसन जा जमाया। परन्तु इस बात को मुश्किल से एक वर्ष भी न बीत पाया होगा कि रामकुमार की मृत्यु हो गई और मदिर की पूजा का सारा भार अचानक आ पड़ा बेचारे गदाधर के ही कन्धो पर! यही से उसके जीवन मे एक युगान्तरकारी पटपरिवर्तन का क्रम आरम्भ हो गया।

अनोखी तड़पन

अब उसे मदिर के कार्य के नाते नित्य ही बडे तडके मे नौ-दस बजे रात तक लगातार भगवती काली की सेवा-अर्चना ही मे लगा रहना पड़ता था। उसके ही साथ उसका उठना-बैठना होता था, उसी के साथ सोना और जागना। प्रति दिन वही प्रधान पुजारी की हैसियत से उस महामाया का अभिषेक करता। तरह-तरह के वस्त्रालकारो और पुष्पमालाओ के शृगार से उसे सजाता। अगर-धूप-दीप आदि से उसकी आरती उतारता। नैवेद्य आदि चढ़ाता और इस प्रकार की षोड़शोपचारयुक्त पूजा के अन्त मे विधिवत् उसे शयन कराता!

इस नित्यप्रति के निकट सपर्क और मन्दिर के भक्तिरस-परिप्लावित वातावरण का प्रभाव उस जैसे जन्मजात भावुक व्यक्ति के सवेदनशील हृदय पर पडे बिना आखिर कब तक रह सकता था? कब तक वह सुबह से शाम तक अपने आस-पास गूँजते रहनेवाले उस घण्टा-निनाद, मन्त्रोच्चार और गायन-स्तवन के हृदयहारी स्वर एव श्रद्धाभक्तिपूर्वक अर्पित किए गए धूप-दीप-नैवेद्य के मादक सौरभ के नशे से अपने आपको बचाए रख सकता था?

अत. शीघ्र ही उसका भावुक हृदय हिल चला और गहराई के साथ अब उस पर भगवती काली की भक्ति का रङ्ग चढने लगा! वह पागल-सा हो चला और अत मे स्थिति इस सीमा तक पहुँच गई कि उस पाषाण-प्रतिमा ही मे वह उस जगद्धात्री का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने के लिए आकुल हो उठा!

अब उसे न तो अपने तन की ही सुध थी, न मन की! वह तो घण्टो उस देवी की प्रतिमा के आगे पागलो की तरह लोटपोट होकर छटपटाता रहता था। उसकी आँखो से आँसुओ का प्रवाह नही थमता था और मुँह से 'माँ' शब्द नही छूटता था। उसके लिए ससार की सभी वस्तुएँ अब फीकी और नीरस थी—केवल उस पत्थर की मूर्ति को एक बार जीवन के स्वर से स्पदित होते देखने भर के लिए ही उसकी आँखे तरस रही थी! पर क्योकर वह निर्मम पाषाण पसीजता! 'वस्तुतः इस

पत्थर के भीतर कोई है भी ?' उसके मन में रह-रहकर यह विचार उठता, और करुणार्द्र स्वर मे वह उसी से पूछने लगता—'माँ, क्या समसुच ही तुम इसमे हो भी, या यह कवियो और भक्तो की कोरी कल्पना मात्र है ? क्या सच ही तुम्हारा कोई अस्तित्व भी है ? और यदि है तो फिर तुम मौन क्यो हो, क्यों नही अपने भक्त के सन्मुख प्रकट हो उसे निहाल कर देती ? क्या इस विश्व का भरण-पोषण करनेवाली कोई शक्ति है भी, या वह एक निरा सपना ही है ?'

'महाभाव' की उच्च भूमिका

इस प्रकार छटपटाते, तड़पते, आँसू बहाते महीनों बीत जाने पर भी जब वह पत्थर न हिला, तब एक दिन अपने निरर्थक जीवन का अन्त करने का दृढ सकल्प कर उसने समीप ही मदिर की दीवार पर टँगी हुई नगी तलवार को उठा लिया ! किन्तु यह क्या ? दूसरे ही क्षण ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके आस-पास की सभी वस्तुएँ—वह मन्दिर का कक्ष, वे द्वार और खिड़कियाँ—सभी-कुछ एकदम लुप्त-सी हो गई और उसके बदले चारो ओर से लोकोत्तर तेज का एक अगाध अनत महासागर-सा उमड़ पड़ा, जिसमे वह एकबारगी ही डूब-सा गया !

वह अचेत-सा होकर धरती पर गिर पड़ा। पर उस बेसुध दशा मे भी वह अपनी अन्तरात्मा की गहराई मे एक अभूतपूर्व नूतन चेतना का अनुभव करता रहा। उसे अपने भीतर और बाहर सर्वत्र एक अलौकिक तेजोमयी शक्ति की विद्यमानता का सजग भान प्रतिक्षण हो रहा था ! स्पष्टतया कोई उसके हृदय पर मानो प्रेम की मीठी-मीठी थपकियाँ-सी दे रहा था ! भक्त को भगवान् मिल गया था और उसका रोम-रोम एक अनिर्वचनीय आनन्द की पुलक से सिहर उठा था ! इस समाधि की अवस्था मे गदाधर तीन दिन तक सज्ञाशून्य की भाँति जहाँ का तहाँ ही पडा रहा !

किन्तु ज्योही उसे पुन चेत हुआ, अपने उपास्य को सामने से अतर्द्धान हुआ देखकर अब वह और भी अधिक व्याकुल हो उठा । उसके लिए अब अपने इष्ट का क्षण भर का भी विरह असह्य था। वह घायल की तरह तड़पने लगा। 'माँ, माँ' पुकार-पुकारकर सिर धुनने लगा। यहाँ तक कि धरती पर पछाड़ खाकर और मस्तक रगड़-रगड़कर उसने अपने आपको लोहूलुहान कर लिया ! लोगो ने समझा कि निश्चय ही अब वह पागल हो गया है। परतु उसकी व्यथा का मर्म तो केवल वही जानता था।

अत मे उसके लिए मदिर के पूजा-अनुष्ठान सबधी विविध क्रियाकलापो का विधिवत् उत्तरदायित्व निभाना नितान्त कठिन हो गया। उसका स्वास्थ्य भी दिन-पर-दिन चिन्ताजनक हो चला। उसकी देह प्राय अगारे की तरह तपा करती और कभी-कभी तो उसके रोमकूपो से रक्त की छोटी-छोटी बूँदे तक बाहर उभर आती ! इस तड़पन की दशा मे यदि कोई एक अवलब उसे प्राप्त था, तो केवल यही कि जब भी उसकी वेदना की पराकाष्ठा हो जाती, तब मानो किसी पारलौकिक शक्ति की अनुकपा से उसका शरीर सज्ञाहीन-सा हो जाता। उस समाधि के महासागर मे उतरकर इष्ट के साथ आत्म-साक्षात्कार करते हुए उतने समय के लिए वह चिदानन्द में लीन हो जाता था !

आठों पहर का साक्षात्कार

इस प्रकार साधना के धधकते पथ पर अग्रसर हो उसने अपने और अपने उपास्य के बीच का पर्दा फाड़ फेकने मे सफलता पा ली। अततः एक दिन आया जब कि वह 'महाभाव' की उस उच्च भूमिका पर पहुँच गया, जहाँ उसे इष्ट-दर्शन के लिए अब किसी भी बाहरी प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं रह गई। अब तो आठो पहर भगवती उसकी आँखो में रमने लगी। वह सदा के लिए उसके मन-मदिर में आ बसी ! उसके लिए वह जड़ पत्थर पिघलकर सजीव हो उठा ! अब तो वह घटो उसके साथ बातचीत करता ! वह उससे अनुनय-विनय करता और हँसी-ठठोली तक करता था !

उसके इस असामान्य बर्त्ताव और दिन-पर-दिन गिरते चले जा रहे स्वास्थ्य से घबड़ाकर आखिर मदिर की सस्थापिका रानी रासमणि ने अपने दामाद माथुर बाबू की सहायता से कलकत्ते के अच्छे से अच्छे डॉक्टरों को बुलवाकर उसका औषधि-उपचार कराने का प्रयत्न किया। किन्तु सब-कुछ बेकार सिद्ध हुआ ! तब अज्ञानवश यह सोचकर कि सभवत. कठोर इन्द्रिय-दमन के कारण ही उसकी यह दशा हो रही हो, उन्होने एकान्त में उसके पास युवती वारागनाओं तक को भेजा ! किन्तु इस उपाय का भी उस पर कोई प्रभाव न पड़ा—उल्टे

चौंककर वह और भी अधिक आतुरतापूर्वक अपनी साधना में तल्लीन हो गया। अंत मे सब उपाय विफल होने पर मन्दिर के इन व्यवस्थापको ने पूजा का भार उसके भतीजे—हृदय—को सौपकर वायु-परिवर्तन के लिए उसे कुछ दिनो के वास्ते वापस अपने गॉव कामारपुकुर भेज दिया।

देहात मे आकर जब कुछ समय बाद गदाधर फिर से सामान्य बर्त्ताव करने लगा, तो उसकी माता तथा अन्य अभिभावको ने यह विचार कर कि सभवत: विवाह से उसके स्वास्थ्य मे अनुकूल परिवर्तन हो जायगा, उसके आगे शादी का प्रस्ताव रक्खा। और सबको महान् आश्चर्य हुआ, जब कि अपने भोले स्वभाव के कारण वह न केवल उनकी बात से सहमत ही हो गया, बल्कि स्वय ही उसने उस कन्या को भी चुन लिया, जिसके भाग्य में उसकी जीवन-सहचरी होना बदा था! इस प्रकार तेईस वर्ष के इस पागल-जैसे युवक का शारदामणि नामक एक पॉच वर्ष की बालिका के साथ सदा के लिए गठबधन हो गया! पर यह विवाह क्या था, एक खिलवाड़-सा था! वस्तुत जीवन भर कभी भी इस अनोखी जोड़ी मे सासारिक दाम्पत्य-सबध स्थापित न हो पाया! बल्कि इस अद्भुत तपस्वी ने अपनी इस जीवन-सगिनी को भी भगवती काली का ही एक रूप मानकर उसी भाव से उसकी पूजा-अर्चना की और कालान्तर मे उसे भी उसने बहुत-कुछ अपने ही रग में रँग लिया!

कठोर साधना

डेढ वर्ष बाद गॉव से लौटकर गदाधर ने जब पुन: दक्षिणेश्वर के अपने उस सुपरिचित मदिर के प्रागण में कदम रक्खा, तो क्षण भर ही मे उसका वह पुराना पागलपन मानो फिर से हरा हो उठा और एक बवण्डर की तरह उसके अतस्तल मे जग पड़ा फिर से वही दुर्द्धर्ष आध्यात्मिक साधना का तूफान! फिर से वह उसी प्रकार कातर वाणी में 'मॉ, मॉ' पुकारकर सिर धुनने लगा। बात-बात मे वह अचेत होने लगा, और इष्टसिद्धि के लिए अपने आपको तरह-तरह की कठोर साधनाओ के शिकजे मे कसने लगा! कहते है, इन्ही दिनों अपने मन के अहकार को कुचलने के लिए उसने लुक-छिपकर कई बार अपने सिर के बालों से मेहतरो के घर-आँगनों को झाड़ा-बुहारा! उसने अपने हाथो उनके पाखानो तक को साफ किया! इस कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप जहॉ उसका अत:करण कसौटी पर चढाए गए सोने की भॉति दुगुने तेज के साथ दमकने लगा, वहॉ उसके शरीर को बदले मे काफी गहरा मूल्य भी चुकाना पडा। उसकी देह क्रमश: सूखकर कॉटा हो चली और सबसे अधिक चिन्ताप्रद बात तो यह थी कि उसकी आंखे अब पागलो की तरह चौबीसो घटे खुली ही रहने लगी—उसके लिए अपने पलक गिराना असभव हो गया!

उसकी तदुरुस्ती इतनी बिगड़ गई कि फिर डॉक्टर-वैद्यो की शरण लेना अनिवार्य हो गया। परन्तु कठिनाई तो यह थी कि कोई भी उसके रोग का ठीक से निदान ही नही कर पाता था! और कोई उसकी उस बीमारी को समझता भी तो कैसे? उसकी व्यथा का मर्म समझने के लिए तो दरअसल आवश्यकता थी आध्यात्मिक क्षेत्र के किसी जानकार चिकित्सक की—एक पहुँचे हुए सच्चे गुरु की! वही अँधेरे मे टटोल-टटोलकर आगे बढते चले जा रहे इस अनाडी-जैसे साधक को योग की विज्ञानसिद्ध पगडडी पर लाकर आध्यात्मिक सकट की उस स्थिति से उसे उबार सकता था!

भैरवी संन्यासिनी

तब दैवयोग से अनायास ही विधाता ने एक दिन घर-बैठे ही उसे वह मनचाहा पथप्रदर्शक भी ला दिया। उसकी उँगली पकडते ही हमारे इस युवा चरितनायक की जीवन-साधना के क्रम मे एक नया पट-परिवर्तन हो गया। कहते है, एक दिन यह पागल पुजारी दक्षिणेश्वर के मन्दिर की अगासी पर खड़ा हो गगा के वक्ष:स्थल पर अठखेलियां करती हुई लहरो और नौकाओ का दृश्य निहार रहा था। इतने मे एक नौका आकर नीचे घाट पर लगी। उसमे से उतरकर क्षणभर मे ऊपर मदिर के प्रागण मे आ खडी हुई गेरुआ धारण किए, खुले केशपाश से युक्त, लगभग चालीस वर्ष की एक तेजस्वी भैरवी सन्यासिनी! वह गदाधर को देखते ही इस प्रकार आतुर हो उसकी ओर दौड़ पडी, जैसे बरसो से बिछुडी हुई कोई मां अचानक अपने बच्चे को सामने पाकर लपक पडे! 'आह बेटा! कितने लम्बे अरसे से मै तुम्हे खोजती यहाँ से वहाँ भटक रही थी'—उसने आनन्दाश्रुओ से अवरुद्ध कण्ठ से गद्गद स्वर मे गदाधर से कहा। आश्चर्य की बात तो यह थी

कि स्वय गदाधर ने भी उसे देखते ही इस प्रकार उसके प्रति व्यवहार करना शुरू किया मानो वह बरसो से उसे जानता-पहचानता रहा हो ! उसने अपने आपको वैसे ही उसके हाथो मे सुपुर्द कर दिया, जैसे कोई बालक पूरे विश्वास के साथ माँ की गोद मे अपने को छोड दे ! इस तरह बात ही बात मे दोनो मे माँ-बेटे का-सा सम्बन्ध प्रस्थापित हो गया। उसी क्षण मे नवागन्तुक सन्यासिनी ने इस तरुण साधक की सारी देखरेख का भार अपने ऊपर ले लिया !

अवतारी महापुरुष

यह नवागन्तुक स्त्री प्राचीन तत्र और भक्तियोग के निगूढ तत्त्वो मे पारगत एक अन्यतम विदुषी थी। वह पूर्वीय बगाल के एक उच्च ब्राह्मण-कुल मे पैदा हुई थी। पिछले कई दिनो से ससार त्याग-कर वह एक ऐसे अलौकिक व्यक्ति की खोज मे यहाँ से वहाँ भटकती फिर रही थी, जिसे एक गुह्य सदेश देने के लिए उसे स्वप्न मे एक ईश्वरीय आदेश मिला था। उसके आनद का पारावार न रहा, जब उस दिन अनायास ही उसे दक्षिणेश्वर के उस ग्रामीण युवक पुजारी के रूप मे अपने स्वप्न-लोक का वह दिव्य पुरुष मिल गया। जब उसने उसमे स्पष्टत प्राचीन भक्ति-ग्रथो मे वर्णित 'महाभाव' की उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए महात्माओ के-से लक्षण देखे, तब तो उसका मन एक अनिर्वचनीय उल्लास से नाच उठा ! उसने तुरत ही इस प्रकार की भाव-स्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति की शारीरिक शुश्रूषा के लिए शास्त्रो मे निर्दिष्ट विशेष उपचारो द्वारा गदा-धर को उन व्याधियों से मुक्त करने मे अपना हाथ लगाया, जो बडे-बडे डॉक्टरो तक की समझ मे नही आ रही थी। जब वह शीघ्र ही फिर एकदम तदुरुस्त हो गया, तब उँगली पकड़कर उसने उसे तत्र और योग के दुरूह पथ पर विधिपूर्वक एक-एक डग आगे बढाना शुरू किया।

अल्पकाल ही मे जब वह तत्र और योग की क्रियाओं मे पूर्ण निष्णात हो गया, तब उस महिला ने धर्मतत्त्व के ज्ञाता ख्यातनामा पडितो की एक सभा आमत्रित की। उनके सामने उसने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया कि भावोद्रेक की अन्यतम अवस्था मे पागल-सा दिखाई पडनेवाला यह युवक कोई सामान्य व्यक्ति नही है ! वह है वास्तव मे बडे भाग्य से कभी-कभी ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण होनेवाला एक दिव्य अवतारी पुरुष ! उसकी समता इतिहास मे चैतन्य जैसे भक्त महापुरुषो ही मे पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नही कि सभी विद्वानों ने एक स्वर मे उस विदुषी का यह निर्णय स्वीकार कर इस नवीन सत के आगे शीश नवाया। तब तो दक्षिणेश्वर का वह काली-मदिर धर्मपिपासु लोगो के लिए मानो एक तीर्थस्थल बन गया। वहाँ मुक्ति की कामना लिए हुए अगणित नर-नारी दूर-दूर से आने लगे और उस महापुरुष की एक झलक मात्र पा अपने आपको कृतार्थ मानने लगे !

तोतापुरी से भेंट और संन्यास

किन्तु इस महासाधक की साधना का क्रम यही तक पहुँचकर समाप्त नही हो गया। वस्तुतः ईश्वर की ओर ले जानेवाली जितनी भी पगडडियाँ बताई जाती है, उन सबको क्रमश. आरभ से अत तक नापकर उनकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए यह अनोखा तपस्वी उत्कठित था ! अतएव अब एक के बाद एक प्राय सभी मत-मतान्तरो की साधन-प्रणालियो से उसने ईश्वर-प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक प्रयोग करना आरभ किया। पहले लगभग तीन वर्ष तक ऊपर उल्लिखित भैरवी ब्राह्मणी को अपनी पथ-प्रदर्शिका बनाकर तत्र की विधि से तो वह साधना कर ही चुका था। तदनतर उसी के तत्त्वावधान मे शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावो की उपलब्धि द्वारा वैष्णव पद्धति से भी इष्ट-प्राप्ति का सफल प्रयोग उसने किया।

इसके बाद एक दिन अचानक ही तोतापुरी नामक एक पहुँचा हुआ अद्वैत वेदान्ती सन्यासी घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा। इस अद्वितीय साधक को देखकर वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। परिव्राजक होने के कारण नियमानुसार यद्यपि वह तीन दिन से अधिक किसी भी स्थान मे नही टिकता था, फिर भी इस प्रतिभावान् युवक के आकर्षण से लगभग ग्यारह महीने तक वह दक्षिणेश्वर मे डटा रहा ! उसने केवल तत्र और भक्ति की राह से अब तक द्वैतमूलक उपासना के पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे इस नवयुवक को वेदान्तसम्मत शुद्ध ज्ञानमार्ग की ओर मोडकर उस उच्च अद्वैतसिद्धि की भूमिका तक पहुँचाने का निश्चय किया, जिसे पा लेने पर फिर किसी भी साधक के लिए कुछ

करना शेष नही रह जाता—जहाँ जगत्, जीव और माया विषयक सभी बधन छूट जाते है और साधक तथा साध्य के बीच का व्यवधान सदा के लिए मिट जाता है। इस नवीन साधना मे प्रवृत्त करने के पहले उसने आश्रम-धर्मानुसार गदाधर को 'रामकृष्ण' के नाम से विधिवत् दीक्षित कर पहले अपनी ही भाँति एक दण्डी सन्यासी मे परिणत किया। तब शास्त्रीय पद्धति से उसे वेदान्त का पाठ पढ़ाना शुरू किया। पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब इस अनूठे शिष्य ने बात ही बात में 'निर्विकल्प समाधि' की उच्च स्थिति तक ऊपर उठकर कुछ दिनों ही मे उस दुरूह साधना मे अपने आपको सिद्ध बना लिया, जिस पर विजय पाने में उसके गुरु को पूरे चालीस वर्ष लगे थे !

परमहंस स्थिति :: अन्य मार्गों की भी परख

इस प्रकार द्वैत और अद्वैत, सगुण और निर्गुण, भक्ति और ज्ञान, सभी की पगडडियो से आत्म-साक्षात्कार कर यह महापुरुष अल्पकाल ही मे भारतीय धर्म और साधना के क्षेत्र की सर्वोच्च अवस्था—परमहस स्थिति—पर पहुँचकर जीवन्मुक्त हो गया ! परन्तु इस पर भी उसके अनुष्ठानो की अभी इतिश्री नही हुई। उसने अब हिन्दू-धर्म की परिधि को लाँघकर ससार के अन्य महान् धर्मो की भी राहो को आजमाने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। इसी उद्देश्य से उसने क्रमशः इस्लाम और ईसाइयत की विधिपूर्वक दीक्षा लेकर उक्त दोनो मतो की निर्दिष्ट पद्धतियो से भी साधना करने का सफल प्रयास किया ! साराश यह कि अपनी साधना द्वारा मानो ताल ठोककर उसने यह प्रमाणित कर दिया कि चाहे जिस मार्ग को भी अपनाया जाय, सभी उसी एक परमपिता परमात्मा ही की ओर ले जानेवाले है, जो सब धर्मो का मूल ध्येय है !

अत मे जब ससार के सभी मुख्य-मुख्य धर्मो की मूलभूत एकता के सत्य को परखकर तथा विविध प्रणालियों से अदृष्ट के महासागर में डुबकी लगाकर यह महापुरुष उस परम सत्ता के 'सत्य', 'शिव' और 'सुदर' स्वरूप की मनचाही झाँकी पा चुका, तब अपनी खोज के क्रम मे बटोरे गए कुछ अनमोल मुक्ता-मणियो को आसपास एकत्रित मुमुक्षु साधको और शिष्यो में वितरण करते हुए अविद्याग्रस्त त्रस्त मानवता को उबारने के लिए अब वह आगे बढ़ा। परन्तु इसके लिए न तो उसने कोई सप्रदाय या मठ ही प्रस्थापित किया, न लबी-चौडी वक्तृताएँ देने का ही मार्ग अपनाया और न दूर-दूर के देशो का भ्रमण-पर्यटन ही किया ! उसने तो जो कुछ भी कहा, वह मानो 'गागर मे सागर' की कहावत चरितार्थ करते हुए एक सरल और अनूठे ढग से केवल वार्तालाप के बीच छोटे-छोटे चुभते हुए उपाख्यानो और चुने हुए नीतिपरक उपदेश-वचनो की पुट देकर कहा। उसे सुनकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उपनिषद्काल का कोई अरण्यवासी ऋषि ही फिर से इस युग मे हमारे बीच उतर आया हो ! और उसके वचनामृत से भी अधिक जादू तो था उसके उस महान् व्यक्तित्व मे, जो केवल एक ही बार की भेट मे किसी के भी जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड देने के असाधारण सामर्थ्य से युक्त था। तो फिर क्या आश्चर्य था यदि साधारण जनो से लेकर समसामयिक बगाल के केशवचन्द्र सेन जैसे महान् जननायक तक उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके ! और विवेकानन्द जैसे उर्ध्वचेता मनीषि ने तो उसके नाम पर अपना सारा जीवन ही न्यौछावर कर ससार मे उसका सदेश फैलाने के लिए गेरुआ तक धारण कर लिया !

नरेन्द्र से भेंट

श्री रामकृष्ण परमहस के जीवन के अन्तिम बीस वर्ष उस महान् ज्ञान की कमाई को मनुष्य मात्र के हित के लिए वितरित करने ही में व्यतीत हुए, जिसे प्राप्त करने मे उन्होने अपनी आयु के पिछले तीस वर्ष खर्च किए थे। इस बीच सिर्फ एक बार फिर से छ-सात महीनो के लिए विश्राम के हेतु अपने जन्मस्थान कामारपुकुर मे जाकर वह रहे। उसके बाद कुछ समय तक माथुर बाबू के साथ प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थों की यात्रा भी उन्होने की। इसके सिवा इस लम्बी अवधि भर वह दक्षिणेश्वर के अपने उस आश्रम ही मे अधिकतर रहे, जहाँ रहकर उन्होने इष्ट-सिद्धि प्राप्त की थी। इस अवधि मे कलकत्ते के कई समसामयिक विशिष्ट व्यक्तियो—जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बकिमचन्द्र चटर्जी आदि—से भेट करने का अवसर उन्हें मिला। उनमे मुख्यतया केशव के साथ उनका सम्बन्ध कालान्तर मे विशेष रूप से

प्रगाढ हो गया। परन्तु इन भेंट-मुलाकातो मे यदि सबसे महत्त्वपूर्ण कोई थी तो वह थी अनायास ही एक दिन अठारह-उन्नीस वर्ष के एक ऐसे बगाली नौजवान से उनकी भेंट, जिसके साथ आगे चलकर युग-युग तक के लिए उनके नाम का गहरा गठबन्धन हो गया ! उस युवक ने स्वय भी इनकी उँगली पकडने का सौभाग्य पाकर अपने आपको युग-युगान्त के लिए अमर बना लिया ! यह उद्भट युवक था कलकत्ते के एक सुसस्कृत बगाली परिवार का वह अद्वितीय प्रतिभाशाली सपूत महामनस्वी नरेन्द्रनाथ दत्त, जो आगे चलकर 'विवेकानन्द' के नाम से प्रख्यात हो इस देश का एक प्रधान लोकनायक बना। उसने इस महान् सत की वाणी को हमारे घर-घर की वस्तु बनाकर इस युग मे एक महान् धार्मिक क्राति प्रस्तुत कर दी !

साधना का मूर्तिमान् सुफल

इस महामनस्वी का किस प्रकार उद्भव और विकास हुआ, और किस प्रकार तर्क-वितर्क के तूफानी झझावात के चक्र से छुटकारा पाकर वह दक्षिणेश्वर के उस ऋषितुल्य तपस्वी के प्रभाव से श्रद्धामूलक ज्ञान के कल्याणमार्ग का पथिक बना एव अत मे उसके प्रमुख उत्तराधिकारी के रूप मे सुदूर योरप-अमेरिका तक इस देश के आत्मवाद का सदेश पहुँचाने मे सफल हुआ, इसका सम्पूर्ण विवरण तो आपको आगे चलकर अलग से उस महापुरुष का जीवन-परिचय पाते समय ही जानने को मिलेगा। अभी हाल तो यहाँ पर केवल इतना ही सूचित कर देना पर्याप्त होगा कि वह था मानो दक्षिणेश्वर के उस महासाधक की साधना का मूर्तिमान् सुफल ! वह उस सत द्वारा आरम्भ किए गए अनुष्ठान की सम्पूर्ति कर उसके आदर्शो को निखिल मानवता के द्वार तक पहुँचानेवाला एक देवदूत था। उसने इस युग मे भारतीय धर्म और तत्त्वविचारो के क्षेत्र मे वही कार्य किया, जो बारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य शकर ने किया था। उसने भी इस देश के बिखरते हुए धर्म-सूत्रो को वेदात की महान् तत्त्व-वेदी पर लाकर एक कर दिया। और यह सब-कुछ था कामारपुकुर से आकर दक्षिणेश्वर मे आसन जमानेवाले उस पागल-जैसे दुबले-पतले ब्राह्मणके ही जादू का प्रताप, जिसका सारा जीवन ही मानो विविधता मे एकता का सत्य खोज निकालने का एक जीता-जागता दीर्घ प्रयोग था !

महामिलन की वेला

सन् १८८४ ई० के लगभग रामकृष्ण के स्वास्थ्य मे उतार का एक चिन्ताजनक क्रम आरम्भ हुआ और अब किसी प्रकार भी वह सँभाले नही सँभाला जा सका। वस्तुत. चालीस-पचास साल के अनवरत तप की अग्नि मे तपकर उनका शरीर एक ऐसी असाधारण सवेदना से परिव्याप्त हो गया था कि वह सदैव धधकता ही रहता था ! उनके जीवन का न जाने कितना अश तो समाधि की अवस्था ही मे बीता था। कहते है, एक बार वह लगातार छ महीने तक सज्ञाशून्य दशा मे पड़े रहे थे ! और उनकी असामान्य सवेदनशीलता का तो यह हाल था कि प्रायः दूसरो को दुख या वेदना से तड़पते देखकर वह स्वय भी उसी तरह तडपने लगते थे, मानो उन्हे भी वैसी ही पीड़ा हो रही हो ! कहते है, निर्विकल्प समाधि की दशा से चेतनावस्था मे आने के बाद, एक बार दो मल्लाहो को आपस मे क्रोधपूर्वक लड़ते-झगडते और मारपीट करते देखकर, वह इस प्रकार वेदना से चीत्कार करने लगे थे मानो वह मार उन्ही पर पड रही हो ! इसी तरह अपनी तीर्थयात्रा के समय देवघर के समीप अकाल-पीड़ित त्रस्त सथाल नरनारियो को देखकर वह ऐसे विगलित हो उठे थे कि घण्टो उनके बीच बैठकर फूट-फूटकर रोए थे ! इतनी गहराई के साथ अपने आपको निखिल विश्व की वेदना के साथ एक कर चुके थे वह !

तो फिर अपनी उस निरतर झकृत काया-रूपी वीणा के तारो को आखिर कब तक समेटकर रख सकते थे वह ? उनका वह जीर्ण अस्थिपजर एक बार जो खड़खडाया, सो फिर लगातार बिगड़ता ही चला गया। विशेषकर उनका गला तो इतना अधिक खराब हो गया कि उनके लिए अब खाना-पीना तक दूभर हो गया ! किन्तु इस पर भी उन्होने आस-पास जुटी रहनेवाली शिष्य-मडली और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ को अपनी अमृत-वाणी से परितुष्ट करते रहने का क्रम नही छोडा। तब १८८५ ई० के अतिम दिनो में उनकी हालत अत्यत खराब होते देख दक्षिणेश्वर से हटाकर उन्हे समीप ही काशीपुर नामक एक बस्ती के एक बँगले मे ले

जाया गया और वहां डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार की देखरेख में सावधानीपूर्वक उनका उपचार शुरू हुआ। परन्तु इससे भी कोई लाभ होते नही दिखाई दिया! सच तो यह था कि उनकी जीवन-गगा अब साधना की दुर्गम घाटियो को पार कर अनन्त के महा-सागर मे विलीन होने के लिए आखिरी मजिल पर आ पहुँची थी। अत मे वह महामिलन की घडी भी आ पहुँची और १५ अगस्त, सन् १८८६ ई०, के दिन अपने महान् उत्तराधिकारी नरेन्द्र (विवेकानन्द) को जीवन की सारी कमाई का सार एव बचे हुए कार्य का भार मौपकर यह महा-मनस्वी अपना नश्वर शरीर त्याग सदा के लिए ब्रह्म मे लीन हो गया!

शिक्षा का निचोड़

श्रीरामकृष्ण परमहस की जीवन-कहानी, आधुनिक भारत के सर्वोच्च युग-प्रतिनिधि महात्मा गाधी के शब्दो मे, 'धर्म को व्यवहार के क्षेत्र मे उतारकर मूर्त रूप देने के महान् प्रयास की एक अमर गाथा है'! और इस महान् साधक की शिक्षा का सारा निचोड़ हमे विवेकानन्द द्वारा उल्लिखित उसके निम्न ज्वलन्त शब्दों मे मिल जाता है—"आत्मोन्नति करो और निजी साधना द्वारा सत्य-निदर्शन का प्रयास करो।" उसका अपना सारा जीवन इसी महान् शिक्षा का मानो एक साकार उदाहरण था। उसने सभी धर्म-प्रणालियो द्वारा कल्याण-मार्ग के अन्वेषण-सबधी अपने सफल प्रयोगो द्वारा सदा के लिए यह सनातन सत्य प्रस्थापित कर दिया कि चाहे किसी भी धर्म या सप्रदाय को अपनाकर चलो, यदि तुम्हारी लगन मे दृढता और सच्चाई है तो निश्चय ही तुम प्रत्येक मार्ग से अतत. उस एक ही परम लक्ष्य—ब्रह्म—के सन्निकट पहुँच जाओगे।

यह अद्भुत महापुरुष सगुण और निर्गुण, एक और अनेक, साकार और निराकार सभी के समन्वय के लिए प्रयास करनेवाला एक असाधारण साधक था। वह एक ओर जहाँ काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही मे परम शक्ति का साक्षात्कार करने की क्षमता रखता था, जिसमें कि राममोहन और दयानन्द जैसे विचारक केवल विमूढ जनता की अधभावनाओ का एक प्रतिबिम्ब मात्र देखते थे, वहाँ साथ ही साथ वह निर्विकल्प समाधि की दुर्लभ अवस्था मे विरले ही साधको के भाग्य मे आनेवाली उस परम अद्वैतानुभूति की भूमिका तक उठने के भी सामर्थ्य से युक्त था, जो कम से कम इस युग मे तो इने-गिने ही महापुरुषो को उपलब्ध हुई है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में असीम और ससीम, सान्त और अनन्त मे कोई भेद नही रह गया था। तभी तो अपनी उस निर्गुण निराकार ब्रह्म की वेदान्त-मूलक अद्वैत-साधना के साथ भगवती काली की अपनी जीवन-व्यापी सगुण उपासना के अद्भुत सम्मिश्रण का समाधान करते हुए वह कहा करता था—"जिसे तुम 'ब्रह्म' कहकर पुकारते हो, वही तो मेरी 'काली' है! वह आदिशक्ति आखिर उसके सिवा और दूसरी है कौन?...........वस्तुत. जब मै उस परम सत्ता को उस निश्चेष्ट रूप मे देखता हूँ, जब कि वह न तो सर्जन, न पालन और न सहार ही करती है, तब मै उसे पुकारता हूँ 'ब्रह्म', 'पुरुष' या 'निर्गुण' कहकर, और जब उसके उस स्वरूप की धारणा करता हूँ, जबकि वह मुझे सृष्टि के एक-मात्र सर्जक, पालक और सहार करनेवाले के रूप मे दिखाई देती है, तो उसे ही 'शक्ति', 'माया', 'प्रकृति' या 'सगुण ब्रह्म' के नाम से मैं पुकारने लगता हूँ! परन्तु इन दोनो मे यथार्थ मे भेद कहाँ है? सच पूछो तो सगुण और निर्गुण दोनो उसी एक ही सत्ता के तो द्योतक है! वे उसी तरह एक-दूसरे से अभिन्न है, जैसे दूध और उसकी सफेदी!"

सभी धर्मों की एकता

इसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में सभी धर्मो की मूलभूत विचार-समानता और एकता के प्रति सकेत करते हुए वह कहता था—"मैने हिन्दू-धर्म, इस्लाम और ईसाइयत सभी के अनुसार साधना करने का प्रयास किया है.......और अत मे इसी नतीजे पर मै पहुँचा हूँ कि यद्यपि सबकी पगडडियाँ अलग-अलग है, फिर भी जिसके प्रति सब धर्म अपने-अपने कदम बढा रहे है, वह ईश्वर तो एक ही है!......मै जिधर देखता हूँ, धर्म के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, वैष्णव आदि आपस मे लड़ते-झगडते दिखाई देते है, किन्तु उनमें से कोई विचार करके देखे, तो यह जानते देर न लगेगी कि जिसे 'कृष्ण' कहकर पुकारा जाता है, वह उससे कदापि पृथक् नही है, जिसे कि 'शिव' कहकर अभिहित किया जाता है!

इसी तरह 'आदि शक्ति', 'ईसा', 'अल्लाह' भी उसके ही विविध नाम है—वही 'राम' हजारो नाम से पुकारा जाता है ! वस्तुतः एक ही सरोवर के कई घाट है, जिनमे से एक पर हिन्दू अपने घडे मे नीर भरकर उस पदार्थ को 'जल' के नाम से पुकारते है, तो दूसरे पर मुसलमान अपनी मशक मे भरकर उसे कहते है 'पानी', और तीसरे पर ईसाई अपने पात्र मे भरकर उसे 'वॉटर' का नाम देते है । पर क्या कोई यह कल्पना भी कर सकता है कि वह वस्तु 'वॉटर' या 'पानी' तो है, पर 'जल' नही ? कैसी हास्यास्पद बात होगी वह, यदि हम ऐसा सोचे ! सच तो यह है कि पदार्थ एक ही है, जिसके कि लिए हम सब उत्कठित है, केवल उसके नाम अनेक और भिन्न है—सिर्फ वातावरण, स्वभाव और नाम का ही भेद है, और कुछ अतर नही । अत प्रत्येक को अपनी-अपनी राह चलने दो । यदि वह अपने दिल की तह मे सच्चाई के साथ ईश्वर को चाहता है, तो अवश्य ही उस प्रभु को पाने मे सफलीभूत होगा और उसका कल्याण होगा ।"

इस महान् तथ्य का उद्घाटन कर इस महापुरुष ने भारतीय धर्म के परम्परागत ढाँचे को ज्यो-का-त्यो कायम रखते हुए ही पिछले दिनो मे ढीले पड गए हमारे सास्कृतिक तारो को फिर से धर्म के बधन मे कस दिया । उसने उन्हे एक नूतन स्वर-लहरी से अनुप्राणित कर दिया ! उसने विध्वस की ओर कदम बढाने के बजाय अपनी परपरागत दीवारो पर ही इस राष्ट्र की नवीन इमारत को उठाने के लिए हमे एक नई प्रेरणा दी । इस दृष्टि से वह अपने पूर्वगामी लोकनेता राममोहनराय और दयानन्द दोनो ही से कही अधिक ऊंचा उठ गया । सभवत. इसीलिए वह उनसे कही अधिक लोकप्रिय और पूजनीय भी बन गया !

उपनिषदों का जीता-जागता भाष्य

श्रीरामकृष्ण की स्तुति मे उनके महान् उत्तराधिकारी विवेकानन्द की निम्न ज्वलन्त प्रशस्ति से अधिक और क्या कहा जा सकता है, जिसमे कि सक्षेप मे पूर्ण रूप से इस देवोपम युगपुरुष का यथार्थ चित्रण हमे मिल जाता है—"समय आ पहुँचा था एक ऐसे महामनीषि के अवतीर्ण होने के लिए, जो कि अपने व्यक्तित्व मे एक ही साथ आचार्य शकर के-से अद्भुत प्रज्ञाबुद्धिसपन्न मस्तिष्क और महाप्रभु चैतन्य के-से विशाल भावविभोर हृदय के समागम का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर सके,......जो कि प्रत्येक मत-मतान्तर के मूल मे एक ही धर्म-भावना तथा एक ही परमेश्वर का निदर्शन करते हुए चराचर मे उस जगन्नियता ही की झाँकी देख सके, और जिसका हृदय इस ससार के सभी दीन-हीन पददलित प्राणियो के लिए विगलित हो आँसुओ की नदियाँ बहा सके !... और श्रीरामकृष्ण के रूप मे वह अत मे हमारे सामने आ प्रकट हुआ ! इस महापुरुष का केवल जीवन ही उसकी शिक्षा से हजार गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था ! वह था उपनिषदो का मानो एक जीता-जागता भाष्य !.....वह जीवनभर स्त्री और पुरुष, गरीब और अमीर, अपढ और पडित, ब्राह्मण और चाण्डाल, आदि के बीच की भेदभाव की दीवार को मिटाने के लिए ही लथडता रहा !.... ...वह पौर्वात्य और पाश्चात्य सस्कृतियो के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए ही इस युग मे हमारे बीच उतरा था ! सचमुच ही, विगत कई शताब्दियो से धार्मिक एकता की सिद्धि करनेवाला इतना महान् और अद्भुत दूसरा कोई शिक्षक भारत मे पैदा नही हुआ !"

'श्रीरामकृष्णवचनामृत'

रामकृष्ण ने न तो कभी कोई पुस्तके ही लिखी, और न औरो की तरह पडिताई ही का दावा करने का उन्होने कभी प्रयास किया । फिर भी साधारण बातचीत ही के बीच उन्होने जब-तब जो कुछ भी कहा, वह अध्यात्म और दर्शन के गहन तत्त्वज्ञान मे पगा हुआ इस देश के लिए ज्ञान का एक अमूल्य वरदान साबित हुआ । उनके उन अमृत-वचनो की जो सबसे अनमोल विशेषता थी, वह यह थी कि वे कोरी दिमागी उधेडबुन या बुद्धि की ऊहापोह की थोथी उपज न थे । वे तो साधना की निर्धूम अग्नि मे से उठे हुए जगमगाते स्फुल्लिगों जैसे थे ! यह हमारे लिए एक परम सौभाग्य की बात है कि उनके शिष्यो ने उनके मुखारविन्द से समय-समय पर बरसनेवाले उन अमृत-बिन्दुओ का संकलन कर 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' नामक एक विशद सग्रह के रूप मे प्रस्तुत कर दिया है । श्रीरामकृष्ण की सद्शिक्षा का लाभ पाने के लिए उनकी जीवन-कथा के साथ-साथ उनकी वाणी के इस दिव्य आलेख का भी अनुशीलन अत्यावश्यक है ।
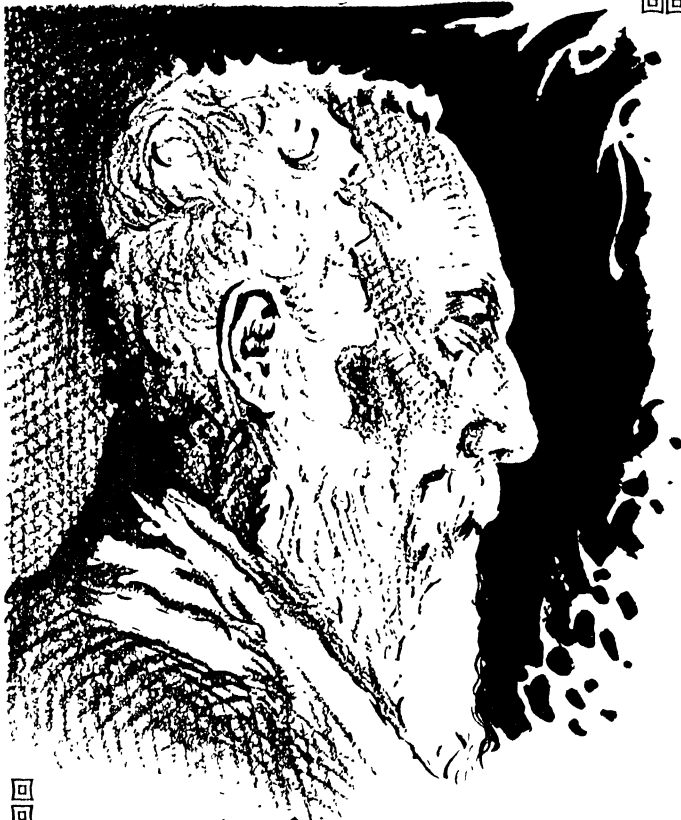
उक्त धर्मवेदी को एक सुसगठित सार्वजनिक हितकारी सस्था का रूप देकर उसे देश के सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान के एक प्रमुख पीठस्थान मे परिणत कर दिया था। यह उनकी तथा उनके शिष्यो की प्रतिभा, कार्यक्षमता और उत्कृट लगन का ही सुफल था कि बगाल की उस रूढिग्रस्त भूमि मे धार्मिक और सामाजिक सुधार का राममोहनराय द्वारा बोया गया बीज अल्पकाल ही मे अकुरित हो पुष्पित-पल्लवित हो सका। तो फिर आइए, आज के युगान्तर की आरभिक पृष्ठभूमि के दिग्दर्शन के इस क्रम मे अन्य विभूतियो के साथ-साथ ब्राह्म समाज के इस महामनस्वी को भी श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित कर उसकी महत्त्वपूर्ण जीवनलीला की एक झाँकी लेते चले, जो कि न केवल अपनी हिमधवल केशपाश युक्त बाह्याकृति के द्वारा ही प्रत्युत अपने विचारों की गहन गभीर क्रान्त-दर्शिता, आध्यात्मिक प्रतिभा एव चरित्र की ऊँचाई की दृष्टि से भी सचमुच ही उपनिषद्काल के तत्त्वचिन्तको की याद दिलानेवाला एक पहुँचा हुआ ऋषि-सा प्रतीत होता था।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक भारत के निर्माण-यज्ञ के लिए जिन-जिन महापुरुषो ने आरभिक समिधा जुटाने का कार्य किया है, उन्नीसवी शताब्दी के बगाल के महान् समाजधर्मी लोकनायक महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी उन्ही मे मे थे। देवेन्द्रनाथ राममोहनराय के बाद ब्राह्म समाज की पतवार सँभालनेवाले बगाल के एक प्रधान धर्मनेता और अपने युग की सास्कृतिक हलचल के एक प्रखर रूप-निर्माता थे। यदि राममोहन ने ब्राह्म समाज की नीव डालकर इस युग मे सुधार की आवाज बुलन्द करनेवाली सर्वप्रथम जनवेदी प्रस्तुत की थी, तो देवेन्द्र ने

बाल्यावस्था ही से परमार्थ की ओर झुकाव

देवेन्द्रनाथ का जन्म मई, सन् १८१७ ई०, मे कलकत्ते के उस प्रख्यात ठाकुर-परिवार मे हुआ था, जो आगे चलकर रवीन्द्र और अवनीन्द्र जैसे रत्नो की

भेंट दे बंगाल की सांस्कृतिक हलचल का एक प्रमुख केन्द्रस्थान-सा बन गया और प्रयाग के सुप्रसिद्ध नेहरू-परिवार की भाँति जिसे हमारे आधुनिक इतिहास में सदा के लिए एक गौरव का स्थान पाने का सौभाग्य प्राप्त हो सका। उनके पिता द्वारकानाथ राममोहनराय के घनिष्ट मित्रों में से थे। अपने राजसी ठाटबाट तथा खर्चीलेपन के कारण वह 'प्रिंस द्वारकानाथ' के नाम से मशहूर थे। ऐसे अमीर घराने में जन्म लेकर देवेन्द्र के लिए विलास-वैभव के पथ पर ढुलक पड़ना आसान था। परन्तु आश्चर्य की बात थी कि बचपन ही से स्वाभाविक रूप से उनका झुकाव आध्यात्मिक मनन-चिन्तन और परमार्थ-साधन की ओर ही अधिक रहा। फलतः सांसारिक विषय-सुख के प्रति उदासीनता का भाव रखते हुए आरंभ ही में उन्होंने आत्मोपलब्धि के कटकाकीर्ण मार्ग पर ही अपना कदम बढ़ाया।

उनकी इस प्रवृत्ति में बढ़ावा देने में सबसे अधिक सहायक हुई उनकी वृद्धा दादी (द्वारकानाथ की माँ), जो निरंतर व्रत-अनुष्ठान और भजन-कीर्त्तन में रत रहनेवाली पुराने ढंग की एक कट्टर धर्म-परायण स्त्री थी। उसकी मृत्यु के समय देवेन्द्र-नाथ को वैसा ही आत्मानुभव हुआ, जैसा कि उपनिषदों में वर्णित ऋषिकुमार नचिकेता को यम का साक्षात्कार करते समय हुआ था। उनके मन में वैराग्य का एक प्रबल भाव जग गया। तभी से भौतिक वस्तुओं की विनश्वरता तथा सांसारिक ऐश्वर्य-सुख की अन्तिम निस्सारता की गहरी छाप उनके मानस-पटल पर अंकित हो गई। फलत. अपने अंतस्तल में टिमटिमाती हुई आध्यात्मिकता की उस लौ ही में अब उन्हें आशा की एकमात्र ज्योति दिखाई पड़ने लगी, जिसके प्रति संकेत करते हुए उप-निषदकालीन बालक नचिकेता ने यम द्वारा उसके समक्ष रक्खे गए धन-वैभव, स्त्री-पुत्रादिक के लोभ को ठुकराते हुए कहा था—'नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्,' अर्थात् इसकी समानता का दूसरा कोई वरदान नहीं है।*

'तत्वबोधिनी सभा'

इसी प्रकार कुछ ही समय बाद अनायास ही एक दिन किसी फटी-पुरानी पुस्तक के यहाँ से वहाँ उड़ते हुए एक पन्ने द्वारा ईशोपनिषद् की आरंभिक पंक्तियों की गहन दार्शनिकता का परिचय पाकर, प्राचीन भारतीय धर्म और ज्ञान के प्रति उनके मन में ऐसी प्रगाढ़ आस्था का भाव जम गया कि अतीत के गर्भ में छिपी हुई उस अगाध ज्ञान-राशि को सामने लाकर अपने युग की आँखें खोलने के लिए उनकी कामना बलवती हो उठी। इसी आकांक्षा को लेकर सन् १८३९ ई० में कुछ मित्रों के सहयोग से कलकत्ते में 'तत्त्वबोधिनी सभा' के नाम से एक सुधारक सार्वजनिक संस्था की प्रस्थापना उन्होंने की। उसमें महीने में एक बार उपासना के अतिरिक्त आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों पर भाषण, वाद-विवाद और लेख-पठन आदि का नियमित कार्यक्रम होता था।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का आन्दोलन

साथ ही वर्ष भर बाद उसी के तत्त्वावधान में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' नामक एक मासिक पत्र भी उन्होंने निकालना शुरू किया। उसका संपादन करते थे बँगला के एक उदीयमान साहित्यकार बाबू अक्षयकुमार दत्त और उसके लेखक-मंडल में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, डा० राजेन्द्रलाल मित्र, बाबू राजनारायण बोस आदि समसामयिक बंगाल के गण्यमान्य विद्वान् भी सम्मिलित थे।

इस पत्र ने एक ओर स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि सामाजिक सुधारों के पक्ष में और मद्यपान, बहुविवाह आदि कुरीतियों के विपक्ष में जमकर आन्दोलन करना शुरू किया। दूसरी ओर, आज से सौ वर्ष पूर्व ही, जब कि मैक्समूलर अभी अंधकार ही में था, धारावाही रूप से पहले-पहल ऋग्वेद का अनुवाद प्रकाशित करने की ओर कदम बढ़ाकर इस देश की प्राचीन ज्ञाननिधि के प्रति ध्यान आकृष्ट करने तथा पूर्वकालिक इतिहास की गवेषणापूर्ण समीक्षा की परिपाटी चलाने में भी मानो एक अग्र-दूत का काम किया। इन आरंभिक प्रयासों द्वारा देवेन्द्रनाथ ने प्रान्त की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जागृति को आगे बढ़ाने में अमूल्य योग दिया। फलत उनके तथा अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व में बुद्धिवाद की नींव पर स्थापित एक प्रबल प्रगतिशील आन्दोलन बंगाल के युवक-समाज में उठ खड़ा हुआ।

* देखो कठोपनिषद् (१।२२)।

* वे पंक्तियाँ हैं:—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यांजगत्, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

'ब्राह्म समाज' के आँगन में

इसी बीच सन् १८४२ ई० के लगभग उन्होने अपना हाथ बढाया राममोहनराय की मृत्यु के बाद से पूरे दस वर्षो से शिथिल पडे हुए सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म समाज' की ओर भी। उसके साथ अपने पिता की प्रगाढ सहानुभूति के कारण बचपन ही से उनका गाढा सबध प्रस्थापित हो गया था। उसके महान् प्रतिष्ठापक के प्रति भी उनके मन मे कोई कम श्रद्धा और सम्मान का भाव न था। उन्हे वह अनमोल क्षण भुलाए न भूलता था, जबकि राम-मोहन ने विलायत के लिए रवाना होते समय उस छोटी-सी उम्र ही मे अत्यन्त अनुरागपूर्वक हाथ मिलाकर उनके प्रति अपना प्रगाढ स्नेह प्रदर्शित किया था। तब से मन मे लगातार उन्हे यही भान बना हुआ था, मानो उस विदाई के प्रेम-प्रदर्शन ही के रूप मे अपने जीवन-कार्य की मशाल सौपते हुए, उस महान् राष्ट्र-निर्माता ने उनके कधो पर देश के नवजागरण की ज्योति जगाए रखने का उत्तरदायित्व-पूर्ण भार रख दिया था। कहने की आवश्यकता नही कि देवेन्द्र के सस्पर्श मे आते ही 'समाज' फिर से नवजीवन की लहर से उत्फुल्लित हो एकबारगी ही जगमगा-सा उठा। इस प्रकार अल्पकाल ही मे वह पूर्वीय भारत की सास्कृतिक हलचल का अपने युग का सबसे महान् पीठस्थान बन गया। उन्होने आते ही उसमे अपनी नवसस्थापित 'तत्त्वबोधिनी सभा' और उसकी मुखपत्रिका को भी समिलित कर दिया। तब एक के बाद एक उसमे सुधारो का ऐसा ताँता-सा बाँध दिया कि वह शीघ्र ही एक साप्ताहिक प्रार्थना-लय की स्थिति से ऊपर उठकर सार्वजनिक उत्थान के एक सुसगठित मच मे परिणत हो गया।

उदाहरण के लिए, उपासना के समय शूद्रो को वेद-पाठ से वचित रखने की 'समाज' की अब तक की प्रथा को उसके मूल आदर्श के विरुद्ध घोषित कर, उन्होने अब खुले आम वेद-पठन की प्रणाली जारी कर दी। साथ ही उपासको के लिए उपनिषदो के कुछ अश एव महानिर्वाणतन्त्र के पचरत्नस्तोत्र आदि के सकलन के रूप मे एक छोटी-सी निर्देश-पुस्तिका प्रस्तुत कर, उन्होने ब्राह्म धर्म की विधिवत् दीक्षा और उपासना-पद्धति का एक सुनिश्चित विधान भी तैयार कर दिया। उसके अनुसार कई युवको के साथ स्वय अपना भी दीक्षा-सस्कार करा के उन्होने 'समाज' को सदा के लिए एक सुदृढ संगठन के ढाँचे मे कस दिया। इसी बीच उसके भावी आचार्यो, प्रचारको आदि की तैयारी और शिक्षण के लिए 'तत्त्वबोधिनी पाठशाला' के नाम से एक विद्यालय भी उन्होने प्रस्थापित किया, जिसमे उपनिषदो के तत्त्वज्ञान का गहन अध्ययन किया जाने लगा। यही नही, जब उन्हे यह भान हुआ कि उपनिषदो के यथार्थ ज्ञान के लिए वैदिक सहिताओ और ब्राह्मण-ग्रथो की भी जानकारी होना नितान्त आवश्यक है, तो तुरन्त ही चार चुने हुए विद्यार्थियो को वेद पढने के लिए उन्होने काशी भेजा—ऐसे अदम्य उत्साही और दूरदर्शी लोकनायक थे वह! और यह सब उस जमाने की बात है, जब दयानन्द अभी वेदा-ध्ययन के लिए अपने गुरु विरजानन्द के पास भी नही पहुँच पाए थे!

इन्ही दिनो विलायत मे अपने पिता—प्रिन्स द्वारकानाथ—की मृत्यु के कारण देवेन्द्र के सामने एक असामान्य पारिवारिक सकट की परिस्थिति आ खडी हुई। उधर एक ओर तो अपने धार्मिक सिद्धान्तो की वजह से पिता की श्राद्ध-क्रिया मे भाग न लेने के फलस्वरूप उन्हे अपने कट्टरपथी स्वजनो का कोपभाजन बनना पडा। दूसरी ओर पिता द्वारा छोडे गए लगभग एक करोड रुपए के भारी कर्ज के निपटारे के लिए अपनी सारी जायदाद को उन्हे कर्जदारो के हाथ रहन रख देना पडा! परन्तु इस विषम परीक्षा के समय भी उन्होने अपने घुटने नही टेके! उन्होने धीरे-धीरे न केवल उस भारी ऋण का ही एक-एक पैसा अदा कर दिया, बल्कि पिता द्वारा कलकत्ते की एक धर्म-सस्था को दान के रूप मे अर्पित एक लाख रुपए की एक बकाया रकम को भी सूदसहित चुकाकर उन्होने अपने चरित्रबल और सत्यनिष्ठा का एक प्रखर उदाहरण ससार के सामने प्रस्तुत कर दिया!

पारिवारिक संकट

इसी अवधि मे १८४५ ई० के लगभग, डा० एलैक्जैण्डर डफ नामक एक ईसाई मिशनरी के हाथो उमेशचन्द्र सरकार नामक एक हिन्दू युवक के पत्नीसहित ईसाई धर्म में परिवर्तित किए जाने की घटना को लेकर, कलकत्ते के हिन्दू समाज मे एक जबर्दस्त हलचल उठ खडी हुई। इस आन्दोलन मे कट्टरपथी और सुधारवादी दोनो ही वर्ग के लोगो ने

मिलकर विदेशियों द्वारा इस देश के धर्मक्षेत्र पर होनेवाले अनुचित आक्रमणो का सामना करने के लिए मोर्चा बाँधने का दृढ सकल्प किया। इस कार्य के लिए तीस हजार रुपए का चदा इकट्ठा हुआ और 'हिन्दू हितार्थी विद्यालय' नामक एक स्कूल प्रस्थापित किया गया, ताकि हिन्दू विद्यार्थी ईसाई मिशनरियो के स्कूल-कॉलेजो के हथकण्डों से बचकर शिक्षा पा सके। कहने की आवश्यकता नही कि देवेन्द्रनाथ ही इस आन्दोलन के प्रधान सूत्रधार थे।

वेदों की आप्तता-संबंधी विवाद

इसी सिलसिले में डफ द्वारा किए गए आक्षेपो के प्रत्युत्तर मे 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' मे प्रकाशित अपने एक वक्तव्य द्वारा जब उन्होने परोक्ष रूप से वेदो की आप्तता का समर्थन किया, तो स्वत: ब्राह्म समाज ही के अतर्गत मतभेदसूचक एक कटु विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद मे अक्षयकुमार दत्त के नेतृत्व मे एक उग्र दल ने इस बात पर विशेष रूप से जोर देना शुरू किया कि किसी भी धर्म-ग्रथ को, चाहे वह कितना भी मान्य क्यो न हो, अलौकिक या आप्त मानकर बुद्धिवाद की उस नीव को कदापि कमजोर न बनाया जाय, जिस पर कि 'समाज' की सारी भित्ति ही प्रस्थापित थी। इस विवाद को बढते देख अत मे देवेन्द्रनाथ को अपने मतव्य में सशोधन कर यह उद्घोषित करना पडा कि वेद और उपनिषद् इसलिए मान्य नही है कि वे स्वयसिद्ध ईश्वरप्रदत्त ग्रथ है, प्रत्युत केवल इसीलिए कि वे हमारी आन्तरिक सद्सद्विवेकबुद्धि की निगाह मे ऊँचे जँचते है। साथ ही अब 'समाज' की एक सुनिश्चित धार्मिक आधारशिला निर्धारित कर देने की गभीर आवश्यकता का अनुभव करते हुए, 'ब्राह्म धर्म' नामक अपनी एक छोटी-सी कृति द्वारा उन्होने इस सस्था के धर्म-सिद्धान्तो का भी मोटे तौर से स्पष्टीकरण कर दिया। उसका साराश इसी समय उनके द्वारा निर्धारित निम्न चार मूलगत नियमो मे हमे सक्षेप मे मिल जाता है:—

१. आरंभ मे उस परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी न था—उसी ने इस निखिल विश्व की रचना की।
२. केवल वही एक सच्चिदानन्द शक्तिस्वरूप परमात्मा है, जो शाश्वत, सर्वव्यापी और अद्वितीय है।
३ उसी की उपासना में हमारी एहलौकिक और पारलौकिक मुक्ति निहित है।
४. उसकी भक्ति करना और उसे जो कुछ प्रिय हो, उसी कार्य को करना ही उसकी सच्ची उपासना है।

इसके कुछ ही समय बाद सार्वजनिक जीवन के कोलाहल से दूर हटकर एकान्त चिन्तन और ईश्वराराधन ही मे लीन रहने के अभिप्राय से १८५६ ई० मे वह हिमालय चले गए। वहाँ प्रकृति के सान्निध्य मे अनन्त तत्त्व की मर्मर सगीत-ध्वनि के गोपनीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हुए, बहुत दिनो तक मृत्यु से परे के उस अमृततत्त्व की खोज मे वह लगे रहे, जिसकी टोह में अपने-अपने ढग से समसामयिक भारत के दो और महाप्राण युगपुरुष—दयानन्द और रामकृष्ण परमहस—भी उसी समय अन्यत्र सलग्न थे।

अत मे जब उस एकान्त साधना द्वारा आत्मबोध प्राप्त कर उन्होने परम ज्ञान का प्रकाश पा लिया, तब अपनी उस आध्यात्मिक कमाई द्वारा देश की हितसाधना मे योग देने के लिए दो वर्ष बाद वह फिर 'समाज' की वेदी पर आ खडे हुए। अब अपने जोशीले धर्म-प्रवचनो की एक झडी-सी बाँधकर उन्होने ऐसे अपूर्व क्रान्तदर्शी विचारो का उद्घाटन करना शुरू किया कि सैकडो की सख्या मे लोग आ-आकर उनकी वाणी का प्रासाद पा अपने आपको कृतार्थ मानने लगे। यहाँ तक कि अनेक उत्साही युवको ने तो अपना सारा जीवन ही उनके द्वारा निर्दिशित सेवा-पथ पर निछावर कर देने का व्रत ले लिया और अपने आपको 'ब्राह्म समाज' की वेदी पर अर्पित कर दिया!

देवेन्द्र-केशव की अनूठी जोड़ी

इन्ही सेवाव्रती नवयुवको मे था कलकत्ते की उगती हुए पीढी के क्षितिज पर मानो प्रभातकालीन शुक्र तारे की तरह अभी-अभी चमक उठनेवाला एक अप्रतिम प्रतिभाशाली तरुण केशवचन्द्र सेन भी। वह अनायास ही एक दिन राजनारायण बोस लिखित ब्राह्म धर्म सबधी एक ट्रैक्ट पढकर 'समाज' की ओर गहराई के साथ आकर्षित हो गया था। उसी क्षण से अपने आपको उसके धर्म-मच पर उत्सर्गित कर, उसके आँगन मे निखिल मानवता का आह्वान करने का महाव्रत उसने ले

लिया था। कहना न होगा कि उसे पाकर कालान्तर मे न केवल ब्राह्म समाज ही बल्कि सारे बगाल का मुख उजागर हो गया। इस तेजस्वी युवक के सबध में विशेष परिचय तो आगे चलकर प्रस्तुत किए गए उसके पृथक् जीवन-चित्र मे ही आपको मिलेगा। यहाँ तो केवल यही कहकर उसकी अप्रतिम प्रतिभा की ओर इगित कर देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि वह था अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष का एक अपरिपक्व नौजवान ही, फिर भी कलकत्ते के समाज-सुधार के क्षेत्र मे 'ब्रिटिश इडिया सोसायटी' नामक एक साहित्य-गोष्ठी, 'गुडविल फ्रेटर्निटी' नामक एक धार्मिक भ्रातृमडली और कोलूटोला की एक रात्रि-पाठशाला के सस्थापक तथा सचालक के रूप मे इस छोटी-सी उम्र मे भी वह काफी नाम कमा चुका था। वह एक असाधारण कोटि का महान् वक्ता था। वह अग्रेजी तथा बॅंगला दोनो ही भाषाओ मे ऐसे धाराप्रवाह के साथ भाषण देता था कि सुननेवाले दग रह जाते थे! उसने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' मे शिक्षा पाई थी। वहाँ से निकलने पर बाद मे पाश्चात्य दर्शनशास्त्र तथा ईसाई धर्म का भी विशेष रूप मे उसने अध्ययन किया था, जिसका प्रभाव आजीवन उस पर बना रहा।

ऐसे प्रतिभावान् उत्साही कार्यकर्त्ता को पाकर यदि देवेन्द्रनाथ जैसे रत्नपारखी लोकनेता का हृदय खिल उठा हो तो उसमे आश्चर्य ही क्या था। वह उसके प्रति इतने अधिक आकर्षित हो गए कि सन् १८५९ ई० की अपनी लका-यात्रा मे उसे भी अपने साथ लेते गए। वहाँ से लौटते ही उन दोनो के बीच पारस्परिक स्नेह का एक ऐसा प्रगाढ सबध प्रस्थापित हो गया, जो बाद मे विचारो मे गहन मतभेद हो जाने पर भी जीवनभर कभी ढीला नही पड पाया।

'ब्राह्म विद्यालय' और 'इंडियन मिरर'

उसी वर्ष 'समाज' के तत्कालीन प्रधान मत्री प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के त्यागपत्र दे देने पर उसकी नैया को खेने का भार आ पड़ा देवेन्द्र और केशव के सयुक्त कधो पर ही। इस पटपरिवर्तन के साथ ही ब्राह्म समाज के इतिहास मे एक नया अध्याय जुड़ गया। अब देवेन्द्रनाथ के गभीर प्रवचनो के साथ-साथ केशव की ओजस्वी वाणी और प्रखर लेखनी द्वारा उसके मच पर से क्रमश: धार्मिक और सामाजिक विषयों पर सुधारवादी सभाषणो और लेखो-ट्रेक्टों की एक बौछार-सी शुरू हो गई। फलत: थोड़े ही समय मे बगाल के सास्कृतिक क्षेत्र मे एक तूफान-सा आ गया और सभी कोई आशा और उमग की निगाह से प्रकाश के लिए अब 'समाज' ही की ओर देखने लगे। इन्ही दिनो 'समाज' के तत्त्वावधान मे सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म विद्यालय' की भी प्रस्थापना हो चुकी थी। वहाँ देवेन्द्रनाथ बॅंगला मे और केशवचन्द्र अग्रेजी मे नियमित रूप से भाषण देकर भावी कार्यकर्त्ताओं को ब्राह्म धर्म की शिक्षा तथा सुधार की भावना से अभिमत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। साथ ही देवेन्द्र की आर्थिक सहायता द्वारा केशव के सपादकत्व मे 'इडियन मिरर' नामक सुप्रसिद्ध अग्रेजी पत्र भी कलकत्ते से निकलने लगा था। यह पत्र कालान्तर मे पाक्षिक से साप्ताहिक और अत मे एक दैनिक पत्र बन गया। उसने उन दिनो की सर्वाङ्गीण जागृति को बढावा देने मे मूल्यवान् योग दिया।

तब १३ अप्रैल, १८६२ ई०, के दिन बडी धूम-धाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने युवक केशवचन्द्र सेन को 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित कर उन्हे 'समाज' के आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। फलत: अब पहले से भी अधिक जोर-शोर के साथ 'समाज' की वेदी पर से ब्राह्म धर्म के प्रचार और सुधारो के प्रवर्त्तन का कार्य किया जाने लगा। इसके शीघ्र ही बाद सन् १८६४ ई० मे केशवचन्द्र ने मद्रास, कालीकट, बबई, पूना आदि स्थानों की एक विशद प्रचार-यात्रा की। इससे देश मे अन्यत्र भी अनेक सुधारवादी ब्राह्म मदिरो की प्रस्थापना हो गई और बगाल की सीमाओ को लॉघकर अब ब्राह्म समाज एक निखिल भारतवर्षीय सस्था बन गया।

केशव से मतभेद

किन्तु एक-दूसरे के प्रति असामान्य पारस्परिक स्नेह और गभीर श्रद्धा का भाव रखने तथा 'ब्राह्म समाज' की उन्नति एव वृद्धि के लिए समान रूप से उत्कठित होने पर भी देवेन्द्र और केशव के धर्म और समाज-सुधार सबधी विचारो तथा नीति मे गहन अतर था। कारण, देवेन्द्र थे मूलत: प्राचीन भारतीय धर्म और सास्कृतिक परंपरा के ही एक अनन्य उपासक। वह उस परपरा को उलट देने के

लिए कदापि तैयार न होनेवाले एक नरम नीतिधर्मी सुधारक थे। उधर केशव था इसके प्रतिकूल गहराई के साथ ईसाइयत एवं पाश्चात्य विचारो के रग मे रँगा हुआ एक उग्र सुधारवादी, जो कि हिन्दू धर्म तथा समाज के ढाँचे को क्रातिकारी पद्धति से समूल बदलकर अपने अतस्तल के आदर्शानुसार उसका नवनिर्माण करने के लिए उतावला हो रहा था! उनमे से एक भारतीय समाज को पुनः अतीत की ओर वापस मोडकर उपनिषद्कालीन सस्कृति के आगन मे लौटा ले जाने का स्वप्न देखता था! दूसरा अपनी प्राचीन रूढियो और परपराओ की शृखलाओं तथा पूर्व-पश्चिम के भेद-भाव की दीवार को तोडकर निखिल विश्व-धर्म के क्षेत्र मे उसे ला खडा कर देना चाहता था! वह तो अपने प्राचीन ऋषि-मुनियो के साथ-साथ ईसा मसीह के अलौकिक व्यक्तित्व तथा वेद-उपनिषदो के तत्त्वज्ञान की जोड मे बाइबिल की उच्च शिक्षाओं की ज्योति को भी समान रूप से हमारे हृदय मे प्रतिष्ठित देखने के लिए उत्कठित था! तो फिर कब तक उन दोनो का साथ निभ सकता था?

फूट का बीजारोपण

फिर यदि एक-दूसरे को मान्यता देते हुए किसी हद तक वे साथ-साथ चलते भी रहते, जैसा कि कई दिनो तक होता रहा, तो 'समाज' के अन्य सदस्यो से इस प्रकार की आशा भला क्योकर की जा सकती थी? वस्तुत. अब भी 'समाज' के अतर्गत बाहुल्य था ऐसे ही लोगो का, जो कि किसी भी प्रकार के उग्र परिवर्तन को कदापि स्वीकार करने को तैयार नही थे! उनकी निगाह मे तो केशव जैसे एक अब्राह्मण तथा स्पष्टतः ईसाइयत की ओर झुके हुए व्यक्ति का आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया जाना ही एक काँटे की तरह गडनेवाली बात थी! वे यदि चुप थे तो केवल देवेन्द्रनाथ के व्यक्तिगत दबाव से ही। अन्यथा उनके मन तो इतने अधिक खट्टे हो चुके थे कि कई ने तो इस नवीन 'आचार्य' के तत्त्वावधान मे होनेवाली 'समाज' की नियमित उपासनाओ तक मे सम्मिलित होना छोड दिया था! तो फिर क्या आश्चर्य था कि इस घरेलू असतोष और मनमुटाव के वातावरण के कारण शीघ्र ही 'समाज' के आँगन मे गहराई के साथ फूट के बीजो को अपनी जड़ जमाने का मौका मिल गया। फलत भीतर ही भीतर एक-दूसरे के विरोधी दो विभिन्न दल अब उसकी चहारदीवारी मे पनपने लगे। उनमे से एक, जो कि पुराने बुजुर्गों का दल था, केशव और उसकी उग्र सुधारवादिता के एकदम खिलाफ था। दूसरा, जिसमें कि जोशीले नौजवानो का ही बोलबाला था, हर परिस्थिति मे अपने इस क्रान्तिकारी तरुण नेता के ही साथ-साथ कदम बढाने पर तुला-सा बैठा था!

इस गभीर मतभेद के वायुमडल मे बेचारे देवेन्द्रनाथ की स्थिति कितनी नाजुक रही होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। कारण, एक ओर तो वह 'समाज' के पुराने सदस्यो को सतुष्ट रखने तथा उसकी वेदी को विच्छिन्न होने से बचाने के लिए चिन्तित थे। दूसरी ओर केशवचन्द्र के प्रति अपनी अगाध ममता और उस असाधारण युवक की प्रतिभा तथा उसके लक्ष्य की ऊँचाई के भी वह कायल थे। वस्तुतः हृदय मे भारतीय परपरा के अनन्य भक्त होने के कारण, अपने इस उग्र सुधारवादी साथी के बहुतेरे विचारो से पूर्णतया सहमत न होने पर भी, अपनी आन्तरिक भावनाओ को दबाकर उन्होने कई बातो मे समझौता करते हुए अब तक उसके साथ-साथ कदम बढाकर चलने का ही प्रयास किया था, ताकि 'समाज' की एकता बनी रह सके! उदाहरणार्थ, तरुण दल ने इस बात को लेकर जब काफी होहल्ला मचाना शुरू किया कि किसी भी ब्राह्म को यज्ञोपवीत-सूत्र नहीं धारण करना चाहिए, क्योकि वह जातिगत भेदभाव तथा सप्रदायवादिता का प्रतीक है, तो देवेन्द्र ने तुरन्त ही स्वय भी अपना जनेऊ उतार फेका और अपने परिवार मे यज्ञोपवीत-सस्कार करना बद कर दिया!

'प्रथम विभाजन'

परन्तु सच तो यह था कि नई और पुरानी पीढी के बीच मतभेद की जो यह लम्बी-चौडी दरार पड चुकी थी, उसे पूरना असभव-सा था। अतः एक दिन आया, जबकि उसकी वेदी की उस फटी दीवार को अपनी बाँहो मे थामकर ढह पडने से रोकना देवेन्द्रनाथ के लिए भी असभव हो गया। वस्तुतः तरुण दल की माँगे दिन-पर-दिन बढती ही चली गई। फलतः पुराने विचारवाले लोग उनसे अधिकाधिक दूर ही खिचते चले गए। जब परिस्थिति एकबारगी ही काबू से बाहर हो गई और दोनो दलो का एक साथ मिलकर काम करना दुष्कर

हो गया, तब अत मे केशव और उसके उग्र साथी 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के नाम से एक नवीन सस्था के रूप मे सगठित हो 'आदि ब्राह्म समाज' के दायरे से बाहर निकल गए। फलतः अपने पुराने साथियो सहित बेचारे देवेन्द्रनाथ अकेले रह गए। यह घटना सन् १८६७ ई० के लगभग घटी। ब्राह्म समाज के इतिहास मे यह प्रसग उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम से विख्यात है।

स्थानाभाववश यहाँ उस लबे 'यज्ञोपवीत-प्रकरण' सबधी विवाद का विवरण देकर 'समाज' के इस विस्फोट का सुविस्तृत लेखा प्रस्तुत करने मे हम असमर्थ है, जिसने कि इस सारे काण्ड को तूल देकर उसे इस पराकाष्ठा की स्थिति तक पहुँचाया। साथ ही 'ब्राह्म समाज' के इसके बाद के विकास-क्रम की घटनाओ का भी यहाँ उल्लेख करना हम अनावश्यक समझते है, क्योकि इसके बाद से देवेन्द्रनाथ ने सार्वजनिक क्षेत्र से एक प्रकार का सन्यास-सा ले लिया और अपना अधिकाश समय कलकत्ते से दूर बोलपुर मे प्रस्थापित 'शान्ति-निकेतन' नामक अपने एकान्त आश्रम ही मे मनन-चिन्तन तथा ईश्वराराधन मे व्यतीत करना शुरू किया। यह आश्रम आगे चलकर उनके महान् पुत्र कविवर रवीन्द्रनाथ की सुविख्यात 'विश्व-भारती' नामक सस्था को जन्म देकर इस देश का एक प्रमुख सास्कृतिक जनतीर्थ बन गया।

विभाजन के बाद

इस ऐतिहासिक विभाजन के बाद ब्राह्म समाज के नेतृत्व की बागडोर कई वर्षो के लिए देवेन्द्र के बजाय अब उनके उत्तराधिकारी केशव के ही हाथो मे केन्द्रित हो गई। अतएव इसके बाद की उसकी इतिहास-गाथा को उस महापुरुष का अलग से जीवन-चित्र प्रस्तुत करते समय ही देना अधिक उपयुक्त होगा। हाँ, इस बात का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस सारे विवाद के बावजूद भी देवेन्द्र और केशव के पारस्परिक स्नेह-बधन तथा एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव मे रचमात्र भी अतर नही पड पाया। बल्कि इस घटना के वर्ष भर बाद ही केशव के दल ने एक विशेष उत्सव का आयोजन कर वृद्ध देवेन्द्रनाथ को, उनके महान् व्यक्तित्व तथा जीवन-कार्य के उपलक्ष्य मे एक मानपत्र देकर, श्रद्धाभाव-पूर्वक 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया और उनके प्रति अपना अगाध सम्मान प्रकट किया। और उदारमना देवेन्द्र ने भी इस अप्रिय विवाद को केवल विचारो ही के क्षेत्र तक परिमित रखकर अपने हृदय की गहराई मे 'समाज' के दोनो ही दलो के लिए ज्यो-का-त्यो सहानुभूति का भाव बनाए रक्खा। वह उनकी सहायता करने के लिए यथासाध्य जीवनभर तत्पर रहे, यहाँ तक कि सन् १८७१ ई० मे केशव के अनुरोध पर उन्होने 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के भी मच से एक बार प्रवचन किया, यद्यपि केशवचद्र की ईसाइयत के रग मे रँगी हुई धर्म-प्रवृत्तियो के वह कभी भी समर्थक न रहे और अत तक इस सबध मे अपना विरोध प्रकट करते रहे।

बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी

देवेन्द्रनाथ एक पक्के बुद्धिवादी ज्ञानमार्गी साधक थे। किन्तु यह आश्चर्य की बात थी कि शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के साथ वह जीवनभर अपने आपको सहमत न कर सके। वह जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व अर्थात् 'सोहमस्मि', 'तत्वमसि', आदि श्रुतिवाक्यो मे निहित अद्वैत ब्रह्मवाद की धारणा को स्वीकार करने को कभी भी तैयार न हो सके, जैसा कि उनके निम्न-लिखित विचारो से स्पष्ट है—"हमारा ईश्वर के साथ जो सबध है, वह है उपासक और उपास्य का सबध और यही ब्राह्म धर्म का मूलतत्त्व है। अतः जब मैने आचार्य शकरकृत वेदान्त-दर्शन की शारीरक मीमासा मे इससे बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकलते देखा, तो मै किसी भी तरह उस पर अपना विश्वास न जमा सका और न अपने मत विशेष की पुष्टि के लिए ही उसका अवलब ले सका।.... इसी प्रकार स्वय उपनिषदो मे भी जब 'सोहमस्मि' 'तत्वमसि' जैसे वाक्यो को मैने पाया तो उनकी ओर से भी मै निराश हो गया। मैने यह अनुभव किया कि उपनिषद् भी हमारी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकते। वे हमारे हृदय की प्यास को सपूर्णतया बुझाने मे असमर्थ है!....... जब मैने उपनिषदो को यह कहते सुना कि ब्रह्म की उपासना अततः निर्वाण की ओर ले जानेवाली है, तो मेरा अतस्तल इस विचार से काँप उठा...... क्योकि यदि इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धि प्राप्त करने पर जीवात्मा अपनी पृथक् चेतना को खो

बैठता है, तो यह तो मुक्ति नही हुई, बल्कि एक प्रकार से भयकर रूप से अपना अस्तित्व खो बैठना जैसा हुआ !"अद्वैतवाद के प्रति उनके इस प्रबल प्रतिरोध का कारण सभवत. यही हो कि प्रकट मे विवेकानन्द की भाँति शत-प्रति-शत विशुद्ध ज्ञानी दिखाई देते हुए भी अपने अतस्तल की तह मे वह एक छिपे हुए सच्चे भक्त ही थे ! फलतः स्वय अपने और अपने उपास्य के बीच के द्वैतवाद के परदे को मिटा देने के लिए वह कदापि तैयार नही हो सकते थे !

परन्तु एक साधक और विचारक से भी कही अधिक महत्त्व का स्थान देवेन्द्रनाथ को हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व मे जागृति के एक प्रमुख नेता के रूप मे प्राप्त है। उन्होने राममोहनराय द्वारा प्रज्वलित नवयुग की मशाल को अपने सबल हाथो मे लेकर हमारे धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक पुनरुत्थान के अनुष्ठान को कही आगे बढा दिया। बगाल के पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे उन्होने नवयुग की भावना से युक्त एक अद्भुत सास्कृतिक चेतना का स्वर भर दिया । उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत हुआ स्वय उन्ही के अपने निजी परिवार मे, जिसने कि आगे चलकर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जैसे विश्ववद्य महामनीषि और अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ जैसे कलाकारो को जन्म देकर सारे देश का मुख उजागर कर दिया ! निश्चय ही महर्षि देवेन्द्रनाथ के महान् सास्कृतिक प्रभाव का ही यह सुफल था कि इस देश मे शांतिनिकेतन और विश्व-भारती का आदर्श अतत मूर्त रूप मे सामने आ पाया !

देवेन्द्रनाथ की देन

देवेन्द्रनाथ का देहान्त १९ जनवरी, सन् १९०५ ई०, के दिन ८८ वर्ष की आयु मे, अपने महान् शिष्य और उत्तराधिकारी केशव के असामयिक निधन के भी कई वर्ष बाद जाकर हुआ । अत आधुनिक भारतीय राजनीति के भीष्मपितामह स्वनामधन्य दादाभाई नौरोजी की भाँति, उन्हे भी लगभग एक शताब्दी भर हमारे आधुनिक इतिहास के विकास-क्रम के एक महाप्रहरी के रूप मे इस देश के पुनरुज्जीवन के यज्ञ मे भाग लेने तथा उसका पर्यवेक्षण करने का बेजोड़ अवसर मिला । इस महापुरुष ने जीवन भर धार्मिक-आध्यात्मिक अनुसधान और सामाजिक उत्थान के महान् अनुष्ठान मे तल्लीन रहकर, अपने उज्ज्वल उदाहरण द्वारा व्यक्ति और समाज के सामजस्यपूर्ण विकास की सिद्धि का एक अनुपम पाठ हमें इस युग मे पढ़ाया ! और यदि और कुछ नही तो यही क्या कम महत्त्व की बात थी कि इसी धवलकेशपाशयुक्त दीर्घजीवी ऋषि ही की गोद से रवीन्द्रनाथ जैसी विश्व-विभूति का उपहार इस देश को मिला ।

देवेन्द्रनाथ की जीवन-साधना का यथार्थ परिचय पाने के लिए वस्तुतः अपेक्षित है उनकी स्वलिखित 'आत्म-कथा' तथा 'ब्राह्म धर्म व्याख्यान' शीर्षक उनके गभीर प्रवचनो के विशद सग्रह के साथ-साथ ब्राह्म समाज के सपूर्ण इतिहास का गहरा अनुशीलन करने की ! और उनके द्वारा बोए गए सास्कृतिक बीजो का सुफल आँकने के लिए तो न केवल बगाल ही की प्रत्युत समूचे भारतवर्ष की पिछली लगभग एक शताब्दीव्यापी धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक प्रगति का सिहावलोकन करना आवश्यक है। उन्होने हमे जो सबसे बड़ा वरदान दिया, वह था उस प्रगाढ धार्मिक आस्तिकता का वर, जिसकी कि सशय के गर्त्त की ओर लुढकते चले जा रहे इस युग के हमारे नवोत्थित समाज को सबसे अधिक आवश्यकता थी । अपने महान् समसामयिक दयानन्द और रामकृष्ण की भाँति उन्होने भी इस देश की अनमोल सास्कृतिक वसीयत के प्रति सचेत कर जीवनभर इस शोचनीय अवस्था मे से हमे उबारने का ही सत्प्रयास किया ।

आधुनिक विदेह जनक

उन्होने राजाओ का-सा वैभव पाया था, फिर भी सासारिक उत्कर्ष एव भोगविलास की विडम्बना मे न फँसते हुए अपनी आयु का अधिकाश भाग आत्मकल्याण एव जनहित की वेदिका पर उत्सर्ग कर 'महाराजा' के बजाय 'महर्षि' कहलाने ही मे अधिक गौरव का अनुभव किया ! निश्चय ही वह इस युग के 'राजर्षि विदेह जनक' थे । उन्होने ही इस युग मे इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किया कि राजप्रासाद के चकाचौंधभरे वातावरण मे जन्म लेकर तथा वैभव की हवा मे पालित-पोषित होकर भी किस प्रकार आत्मकल्याण का इच्छुक सच्चा साधक निर्लिप्त रहकर आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है !

"हमारा उपासनालय यह निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड है, हमारा आराध्य देवता है वह परब्रह्म परमात्मा, हमारा धर्मग्रथ है अपना सहजजात अतर्ज्ञान, हमारी मुक्ति की राह है उस प्रभु की पूजा, हमारे प्रायश्चित्त का साधन है आत्मशुद्धि, और हमारे पथ-प्रदर्शक नेता है ससार के सभी महान् सत्पुरुष ! हमारे इस सार्वभौम उदार 'ब्राह्म धर्म' मे भला सप्रदायवादिता या विरोध का काम ही क्या है ? यह तो सभी की सामान्य सपत्ति है, कोई पृथक् मत-मतान्तरमूलक सस्था नही ! यह तो उन सभी का खुला धर्म-आँगन है, जो उस एकमात्र सत्यस्वरूप परमेश्वर की पूजा-उपासना मे लीन हो उसके प्रति प्रीतिभाव बढाने और उसके प्रिय कार्यो को करने के लिए उत्कठित हो !"

ससार के धर्म-आँगन मे स्वर्णाक्षरो मे अकित किये जाने योग्य इन शब्दो की उद्घोषणा करनेवाले 'ब्रह्मानन्द' केशवचन्द्र सेन सच्चे अर्थ मे एक विश्व-नागरिक थे ! इन उदात्त शब्दो मे ब्राह्म धर्म के आदर्श के साथ-साथ अपने अतस्तल की निगूढतम भावनाओ की भी यथार्थ अभिव्यक्ति करके, पैतालिस वर्ष के अपने अल्पकालिक जीवन ही मे उन्होने हमारे नवजागरण के इतिहास के एक समूचे पृथक् अध्याय की रचना कर डाली थी । वह अपने पूर्वाचार्य राममोहनराय द्वारा बोए गए बीज के सबसे सुन्दर सुफल के रूप मे इस देश की धर्म-वाटिका मे उच्छ्वसित हुए थे ! वह उस युग-प्रवर्तक राजर्षि की साधना के मानो मूर्तिमान् सिद्धितत्त्व थे और उसके समन्वयमूलक स्वप्न को सार्थक बनाने के लिए ही उसकी सास्कृतिक परपरा मे अवतीर्ण हुए

केशवचन्द्र सेन

थे ! यद्यपि यह सच था कि अपने उपयुक्त समय से बहुत पहले ही पैदा हो जाने के कारण, अपने युग के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग देकर भी, वह उस युग द्वारा वस्तुतः ठीक से पहचाने ही न गए—उनकी ऊँचाई का यथार्थ मूल्य तो आज आकर कही हम कुछ-कुछ जानने लगे है ! फिर भी अपनी वाणी और लेखनी की अदम्य शक्ति तथा अपने जादूभरे व्यक्तित्व के दुर्द्धर्ष प्रभाव से हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन के स्तरो को वेग-सहित झकझोर-कर जिस प्रखरता के साथ एकबारगी ही उन्होने हमे हिला दिया, उसकी विद्युत्-सी कौध मे स्वय उनके ही अपने युग मे भी भला किसकी आँखे एक बार चौधियाये बिना रह सकी होगी ? वह एक स्वाधीनचेता विचारक और निर्भीक समाज-सस्कारक तो थे ही, परन्तु इसमे भी कही अधिक थे वह ईश्वर के लिए तडपनेवाले एक सच्चे भक्त, साधक और छिपे हुए सत । यह हमारा परम सौभाग्य था कि अपनी एकात वैयक्तिक आध्यात्मिक साधना मे पूर्णतः लीन

हो जाने के बजाय समाज के खुले आँगन मे उतरकर जीवनभर लोककल्याण के कठोर अनुष्ठान मे तत्पर रहने का ही मार्ग उन्होने अपनाया ! उन्होने हमे सकुचित साप्रदायिकता के अधकूप मे से निकालकर निखिल मानवता के व्यापक प्राङ्गण मे ला खड़ा करने का उच्च प्रयास किया। इसके लिए ऐसे एक विश्व-धर्म का आदर्श उन्होने हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तरो के सनातन सत्य स्थान पा सके तथा जिसकी छत्रछाया मे बिना किसी प्रकार के भेदभाव के प्रत्येक मनुष्य उस परम पिता विश्व-नियन्ता की पूजा-उपासना मे लीन हो जीवन सार्थक कर सके। इस प्रकार वर्ग, सप्रदाय, जाति और राष्ट्र की सीमित परिधि से ऊपर उठकर उन्होने हमे एक व्यापक अतर्राष्ट्रीय भावना से परिप्लावित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यही उनकी हमारे लिए सबसे मूल्यवान् देन थी ! यद्यपि उनके द्वारा बोए गए धर्म-बीज अभी पूर्णतया प्रस्फुटित नही हो पाए है—वे अभी भी बहुत-कुछ धरती ही मे है। फिर भी वे अकुरित हो चुके है, यह तो निश्चित है ही ! निश्चय ही किसी दिन उनके पूर्ण प्रस्फुटन के साथ ही वह नववसत का साज भी निखरेगा, जबकि आज के इस कटु भेदभाव को भूलकर कधे से कधा मिला प्रत्येक मानव इस पुनीत भूमि की सामान्य वेदी पर अपना निर्धारित लक्ष्य सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो सकेगा। तभी सम्भवत. हम अपने इस चरितनायक के महान् सदेश का यथार्थ मूल्य तथा उसकी ऊँचाई का सही माप भी ले सकेगे, आज नही !

जन्म और शिक्षा-दीक्षा

केशव का जन्म हुआ था १९ नवम्बर, सन् १८३८ ई०, के दिन कलकत्ते के कोलूटोला मोहल्ले के वैद्य जाति के उस प्रसिद्ध सेन-परिवार मे, जिसके एक प्रख्यात पूर्वपुरुष—बल्लाल सेन—ने किसी जमाने मे सारे बगाल पर राज्य-शासन किया था। उसके ही अन्य एक नामाकित सदस्य—रामकमल सेन—राजा राममोहनराय के समकालीन थे। वह छापाखाने के एक साधारण कम्पोजीटर की स्थिति से ऊपर उठकर क्रमशः बगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सर्वप्रथम भारतीय मत्री, कलकत्ते की सरकारी टकसाल के कोषाध्यक्ष और बगाल-बैंक के दीवान के उच्च पद तक पहुँचे थे। उधर साहित्य के क्षेत्र मे भी एक विशद आग्ल-बँगला शब्दकोश की रचना कर वह गौरव का स्थान प्राप्त करने मे सफलीभूत हुए थे ! केशवचन्द्र इन्ही सुप्रसिद्ध रामकमल के सुपौत्र थे और 'होनहार बिरवान के होते चिकने पात' नामक कहावत के अनुसार बचपन ही से ऐसे असामान्य प्रतिभासूचक लक्षणो को लेकर सामने आए थे कि जब वह पाँच वर्ष के निरे बालक ही थे, तभी उनके महान् पितामह ने यह भविष्यद्वाणी कर दी थी कि "बासू* निश्चय ही कुटुम्ब की प्रतिष्ठा को बनाए रक्खेगा !"

उनके बचपन के प्रिय साथी और भावी शिष्य भी प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "उनके उस कुमारावस्था के सरल सौन्दर्य से देवदूतो की-सी आभा झलकती थी !........ वह अपने उस बाल-रूप मे अपनी माता के हृदय के लिए अभिमान की एक वस्तु, अपने परिवार के लिए आनन्द के साधन, अपनी पाठशाला के लिए आभूषण-रूप और अपने मोहल्ले के लिए एक गौरवपूर्ण सम्मान जैसे थे तथा अपने साथियो के तो वह मानो स्वयसिद्ध नेता प्रतीत होते थे !" कहने की आवश्यकता नही कि उचित शिक्षा-दीक्षा के संस्कारों द्वारा परिमार्जित और विकसित होने पर कालान्तर में उनकी वह जन्मजात नैसर्गिक प्रतिभा मानो दूने प्रकाश के साथ दमक उठी, यद्यपि दुर्भाग्यवश बचपन ही मे अपने महान् पितामह और पिता दोनो ही की गोद से बिछुड जाने के कारण उनके अध्ययन के क्रम में बीच-बीच मे काफी बाधाएँ भी उपस्थित होती रही।

वह पहले तो उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'हिन्दू कॉलेज' मे प्रविष्ट हुए थे, किन्तु कुछ ही समय बाद वहाँ से हटाकर अपने अभिभावको द्वारा स्थानीय 'मेट्रापालिटन इस्टीट्यूट' मे भेज दिए गए। वहाँ से अन्ततः उन्हे पुनः हिन्दू कॉलेज ही में वापस आना पडा। वस्तुतः स्कूल-कॉलेज से कही अधिक उन्होने जो कुछ सीखा, वह था अपने व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ही। उसमे सबसे उल्लेखनीय था सन् १८५६ ई० से १८५८ ई० तक लगभग दो वर्ष तक श्री० जोन्स नामक एक अग्रेज प्रोफेसर के

*** केशवचन्द्र बचपन में अपने परिवार में इसी प्यार के नाम से पुकारे जाते थे।**

तत्त्वावधान मे वैयक्तिक रूप से किया गया धर्म और दर्शन विषयक उनका वह गहन अध्ययन, जिसका कि उनके जीवन-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। उनमे अध्यात्म तथा धर्म के प्रति रुझान तो एक जन्मजात प्रवृत्ति के रूप मे बचपन ही से गहराई के साथ विद्यमान था। अतः इस दार्शनिक अनुशीलन ने मानो अग्नि मे घी का-सा काम किया। उसके फलस्वरूप उस अल्पावस्था ही मे प्रवृत्तिपथ की मृगमरीचिका की ओर से आँखे हटाकर आत्मकल्याण के सच्चे मार्ग की ओर अग्रसर हो उन्होने साधना के कठोर शिकजे मे अपने आपको कसना शुरू किया। उन्होने सुख-समृद्धि के वातावरण मे पनपने पर भी अत्यन्त सरलता और गरीबी का बाना पहनने ही मे परम कल्याण का मार्ग देखा। मास-मछली के आहार का उन्होने त्याग कर दिया। सुबह-शाम नियमित रूप से प्रार्थना करना शुरू किया। अपने भीतरी विकारो के घटाटोप से विमुक्त होने के लिए आत्म-शुद्धि तथा प्रायश्चित्त के पथ की ओर भी दृढतापूर्वक कदम बढाना आरम्भ किया! इस आत्मसयम के पुनीत अनुष्ठान मे सफलीभूत होने के लिए सम्पूर्ण रूप से उस दयालु परमात्मा ही के चरणो मे अपने आपको छोड़ देने मे अब एकमात्र आश्रय उन्हे दिखाई दिया।

इन्ही दिनो एक नया मोड सामने आया। उनके अभिभावको ने नौ-दस वर्ष की एक निरीह बालिका—जगन्मोहिनी देवी—के साथ विवाह-सूत्र मे उनका गठबन्धन कर दिया। फिर भी केशवचन्द्र का चित्त अपनी आध्यात्मिक साधना और तपस्या की ओर से तनिक भी विचलित न हुआ! वस्तुतः विवाह हो जाने पर भी अपने महान् समसामयिक रामकृष्ण की भाँति पत्नी के साथ बरसो उनका किसी प्रकार का दापत्य-सपर्क स्थापित न हुआ! उन्होने स्वय ही इस बात का उल्लेख किया है कि "मेरे प्रणय की मधुरात्रि' (सुहाग की रात) प्रभु के मदिर मे आराधना-उपासना ही मे व्यतीत हुई थी।" परन्तु बाद में यथाविधि गार्हस्थ्य-धर्म का परिपालन करते हुए उन्होने दाम्पत्य-जीवन का एक उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया!

सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश

किन्तु उपर्युक्त विवरण से पाठक कही यह न मान बैठे कि हमारे चरितनायक का इन दिनो का एकमात्र व्यवसाय केवल अपना निजी एकाकी परमार्थ-साधन ही रहा हो! वस्तुतः एक ओर तो अतर्मुखी होकर कठोर तपस्या की आँच मे अपने आपको तपाते हुए उपर्युक्त एकान्त साधना में वह लवलीन हो रहे थे। दूसरी ओर साथ ही साथ बाहर समाज के विशद प्राङ्गण मे उतरकर, जनोत्थान और लोकसेवा के कँटीले मार्ग पर बढते हुए, अपने अतस्तल की निगूढ भावनाओ की विराट् अभिव्यक्ति करने का भी वह जोरो के साथ प्रयास कर रहे थे। जैसा कि महर्षि देवेन्द्रनाथ के प्रसग मे उनका परिचय देते समय पिछले प्रकरण मे हम बता चुके है, यद्यपि वह थे अभी केवल अठारह-उन्नीस वर्ष के एक उठते हुए नौजवान ही, फिर भी अपने नगर के सार्वजनिक क्षेत्र मे 'ब्रिटिश इडिया सोसायटी' (सन् १८५४ ई०) नामक एक साहित्यगोष्ठी, 'गुडविल फ्रेटर्निटी' (१८५७ ई०) नामक एक धार्मिक भ्रातृमडली और कोलूटोला की एक रात्रिपाठशाला (१८५५ ई०) तथा और भी कई छोटी-बडी लोकसंस्थाओ के प्रतिष्ठापक एव सूत्र-सचालक के रूप मे सामने आकर इस छोटी-सी उम्र ही मे काफी ख्याति वह प्राप्त कर चुके थे।

'ब्राह्म समाज' के आँगन में

हाँ, यह बात अवश्य थी कि अपने भीतर और बाहर दोनो दिशाओ मे अभी कोई निश्चित ध्रुव-बिन्दु का आधार न होने के कारण वह टटोल-टटोलकर ही आगे बढ रहे थे। उनकी स्थिति एक सघर्ष की स्थिति थी। अपनी इन दिनो की डाँवा-डोल अवस्था का चित्र खीचते हुए स्वय उन्होने ही वर्षों बाद इगलैड मे एक व्याख्यान के अतर्गत यह बताया था कि किस प्रकार अन्त मे वह उस स्थिति से उबरकर ब्राह्म समाज के प्रति आकृष्ट हुए थे। उनके वे शब्द है—"अंग्रेजी शिक्षा ने मेरे मस्तिष्क को उलट-सा दिया था। फलतः उसमे एक शून्य-सा पैदा हो गया था। मैने मूर्तिपूजा-मूलक धर्म का तो त्याग कर दिया था। परन्तु बदले मे अभी कोई ऐसा रचनात्मक ठोस धार्मिक आधार मुझे नही मिला था, जिस पर कि अपने पैर मै टिका सकता। किसी भी व्यक्ति के लिए आखिर बिना एक ठोस धार्मिक आधारशिला के इस लोक मे रहना भला क्योकर सभव हो सकता है?..........मै गहराई के साथ न केवल उस परमपिता परमात्मा में अटल श्रद्धा ही की

आवश्यकता का अनुभव करता, बल्कि साथ ही साथ इस पृथ्वी पर एक ऐसे भ्रातृत्व के आँगन की प्रस्थापना का भी स्वप्न मन ही मन देखता था, जिसकी परिधि मे मनुष्य मात्र एक हो सके। किन्तु कहाँ पाया जा सकता था ऐसा सार्वजनीन धर्म-आँगन ?......मेरी अपनी जानकारी के विभिन्न मत-मतान्तरो और धर्म-सम्प्रदायो से तो अपने इस प्रश्न का कोई समाधानसूचक उत्तर मिलते मुझे नही दिखाई देता था। इन्ही दिनो की बात है कि अचानक एक दिन कलकत्ता के ब्राह्म समाज द्वारा प्रकाशित एक छोटी-सी पुस्तिका मेरे हाथो मे पड गई। जब मैने उसका 'ब्राह्म धर्म क्या है' शीर्षक अध्याय पढा, तो सहसा मुझे ऐसा कुछ लगा जैसे उसमे निहित विचारो मे से मेरे अपने अन्तस्तल मे निहित धर्म-भाव ही की प्रतिध्वनि निकल रही हो! मुझे उसमे अपनी आत्मा की तह मे छिपे परमात्मा की स्पष्ट आवाज सुनाई पडी!.... वैसे ही तुरन्त मैने ब्राह्म समाज की उस वेदी के साथ अपने आपको सलग्न कर लेने का दृढ सकल्प कर लिया!"

प्रवचनों की धूम

इसके बाद तो उस महान् सुधारक सस्था के साथ एक होकर, किस प्रकार अपने जादूभरे व्यक्तित्व के प्रभाव तथा वाणी और लेखनी के अप्रतिम ओज द्वारा अल्पकाल ही मे उसके कलेवर मे मानो बिजली-सी दौडाकर, न केवल बगाल ही बल्कि सारे भारतवर्ष की आँखे उन्होने उसके प्रति मोड दी, यह हम महर्षि देवेन्द्रनाथ के चरित्र का वर्णन करते समय पिछले प्रकरण मे देख ही चुके है। उनकी उत्कट धर्म-भावना और अद्वितीय प्रतिभा ने देवेन्द्रनाथ का हृदय हर लिया। सहज ही उन दोनो के बीच एक ऐसा प्रगाढ स्नेह-बन्धन प्रस्थापित हो गया, जो बाद मे विचारो मे गहरा मतभेद हो जाने पर भी जीवन-पर्यन्त शिथिल न होने पाया। सन् १८५९ ई० मे देवेन्द्रनाथ उन्हे अपने साथ लका की समुद्र-यात्रा पर भी लिवा ले गए। वहाँ से लौटने पर दोनों ही एक नवीन उत्साह तथा उमग के साथ ब्राह्म समाज की वेदी पर से जनोत्थान के कार्य को आगे बढाने मे तल्लीन हो गए। उसी वर्ष प० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के अवकाश ग्रहण कर लेने पर 'समाज' के मन्त्रित्व का भार भी इन्ही दोनो के कन्धो पर आ पडा। अत: अब और भी अधिक जोर-शोर के साथ वे अपना सुधार-कार्य करने लगे। इन्ही दिनो उस सुप्रसिद्ध 'ब्राह्म विद्यालय' की प्रस्थापना की गई, जिसने ब्राह्म धर्म का तत्त्व-विवेचन करने तथा 'समाज' के भावी कार्यकर्त्ताओ को अपने मिशन-कार्य के लिए तैयार करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस विद्यालय की कक्षाएँ प्रति रविवार को हुआ करती थी। उनमे देवेन्द्रनाथ बँगला मे तथा केशव अग्रेजी मे विशेषकर आध्यात्मिक विषयो पर ओजपूर्ण ढग से गभीर प्रवचन किया करते थे। इन प्रवचनो को बाद मे प्रचार के हेतु पुस्तकाकार मे प्रकाशित करने की भी व्यवस्था की गई। देवेन्द्रनाथ के बँगला प्रवचन तो 'ब्राह्मधर्मेर मत ओ विश्वास' शीर्षक सकलन के रूप मे निकले और केशव के अग्रेजी व्याख्यान बारह छोटे-छोटे ट्रैक्टो के रूप मे प्रकाशित हुए। उनमे पहला था 'तरुण बगाल, यह तुम्हारे लिए है' शीर्षक सुप्रसिद्ध ट्रैक्ट, जिसने बगीय युवक-समाज की नसो मे एक बिजली-सी दौडा दी!

'संगत सभा' और 'इंडियन मिरर'

तब अपना सारा समय केवल समाजसेवा और लोकोद्धार के कार्य ही मे लगाने के उद्देश्य से सन् १८६१ ई० मे केशवचन्द्र ने बगाल-बैंक तथा सरकारी टकसाल की अपनी लाभप्रद नौकरी से, जिसमे कि वह अभी हाल ही मे लगे थे, त्यागपत्र दे दिया। उसी वर्ष कुछ उत्साही साथियों को साथ लेकर 'सगत सभा' नामक एक पृथक् भ्रातृ-मडली की स्थापना उन्होने की। उसके तत्त्वावधान मे समाज-सुधार एव आध्यात्मिक पुनरुत्थान सबंधी रचनात्मक कार्यो के अतिरिक्त पौर्वात्य एव पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही उसी वर्ष देवेन्द्रनाथ की आर्थिक सहायता से 'इडियन मिरर' नामक एक अग्रेजी पत्र भी उन्होने प्रकाशित करना शुरू किया। यह पत्र कालान्तर मे पाक्षिक से साप्ताहिक और अत में एक प्रभावशाली दैनिक पत्र बन गया। इसके अतिरिक्त भारत मे जनशिक्षा के विस्तार के लिए ब्रिटिश राष्ट्र के नाम एक महत्त्वपूर्ण अपील भी उन्होने निकाली। यही नही, उन्ही दिनो आज के उत्तर प्रदेश को अपने चगुल मे दबोच लेनेवाले एक भीषण अकाल का समाचार पाकर, वहाँ की पीडित जनता के सहायतार्थ काफी चदा इकट्ठा करने की भी व्यवस्था

उन्होने की ! उनकी इन प्रखर सार्वजनिक सेवाओ और उत्कट लगन से प्रभावित होकर वर्ष भर बाद ही बडी धूमधाम के साथ देवेन्द्रनाथ ने 'ब्रह्मानन्द' की उपाधि से विभूषित कर उन्हे ब्राह्म समाज के 'आचार्य' की गद्दी पर प्रतिष्ठित कर दिया । फलत अब और भी जोर-शोर के साथ 'समाज' के मच पर से सुधार-कार्य होने लगा ।

उन्ही के प्रयत्न से १८६२ और १८६४ ई० मे ब्राह्म समाज के तत्त्वावधान मे बगाल के सर्वप्रथम दो अतर्जातीय विवाह सपन्न हुए । परदा-प्रथा को तोडने के प्रयास मे तो स्वय अपनी पत्नी को ही पहले-पहल घर से बाहर लाकर उन्होने साहस और सच्ची लगन का एक उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया । इस प्रसग मे अपने परिवार का कोपभाजन बनकर घर से निकाल दिए जाने का दण्ड तक भुगतना उन्होने स्वीकार किया ! इन्ही दिनो बबई, कालीकट, मद्रास आदि स्थानो की एक विशद प्रचार-यात्रा भी उन्होने की, जिससे कि देश मे अन्यत्र भी ब्राह्म धर्म का प्रतिपादन करनेवाले कई एक सुधारवादी समाज-मदिरो की प्रस्थापना हो गई । इसके अलावा 'ब्राह्म बन्धु सभा' नामक अन्य एक सस्था को जन्म देने के लिए भी उन्होने अपना हाथ बढाया । इस सस्था ने धार्मिक ओर सामाजिक विपयो पर सार्वजनिक भाषण कराने, पर्दानशीन स्त्रियो मे शिक्षा और अध्ययन की प्रवृत्ति जगाने, उनके लिए उचित पाठ्यक्रम और परीक्षाएँ आदि नियोजित करने तथा अन्य सुधार-कार्यो को आगे बढाने के सबध मे बडा ही महत्त्वपूर्ण योग उस आरभिक युग मे दिया !

'प्रथम विभाजन'

किन्तु इस प्रकार धड़ाधड समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होने का उनका यह कार्यक्रम एकदम अविरोध और निष्कटक रूप से भला कब तक चल सकता था ? जैसा कि पिछले प्रकरण मे कहा जा चुका है, एक-दूसरे के प्रति अगाध स्नेह का भाव रखते हुए भी देवेन्द्रनाथ और हमारे चरितनायक के धर्म और समाज-सुधार विषयक विचारो एव नीति मे गहरा अतर था । कारण देवेन्द्र थे मूलतः प्राचीन परपरा ही के अनन्य पुजारी और एक नरम सुधारक, जबकि केशव उनसे विपरीत गहराई के साथ पाश्चात्य विचारो के रग मे रँगे हुए एक उग्र सुधारवादी तथा सभी धर्मो के प्रति समान भाव रखनेवाले एक पहुँचे हुए विश्व-धर्मी थे । यदि वे दोनो स्वय एक-दूसरे को शिष्ट मान्यता देते हुए किसी हद तक साथ-साथ चलते भी रहते, तो भला 'समाज' के अन्य सदस्यो से यही उम्मीद कैसे की जा सकती थी ? उनमे से कई एक तो अब भी रूढिवादिता ही की परिधि मे घिरे हुए थे । उन्हे केशव जैसे एक पाश्चात्य सस्कारयुक्त 'अब्राह्मण' व्यक्ति का समाज के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होना ही बेतरह अखरता था ! अत, जैसा कि विगत प्रकरण मे काफी विस्तारसहित बताया जा चुका है, एक दिन आया जब कि 'समाज' के इस आन्तरिक विग्रह ने ऐसा विकट रूप धारण कर लिया कि पुराने दल के साथ मिलकर काम करना केशव के लिए असभव-सा हो गया । फलत. विवश होकर वह अपने तरुण साथियो सहित 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के नाम से एक नवीन सस्था के रूप मे आदि 'समाज' के दायरे से पृथक् हो गए । यह घटना सन् १८६७ ई० मे घटित हुई और ब्राह्म समाज के इतिहास मे यह उसके 'प्रथम विभाजन' के नाम मे विख्यात है ।

देश भर में 'समाज' की शाखाओं की स्थापना

इसके बाद से देवेन्द्रनाथ सार्वजनिक जीवन से एक प्रकार का सन्यास-सा लेकर अपना अधिकाश समय एकान्तवास ही मे व्यतीत करने लगे, जैसा कि पिछले प्रकरण मे बताया जा चुका है । अतएव समसामयिक बगाल के सामाजिक जीवन के नेतृत्व की बागडोर अब स्वभावत हमारे चरितनायक ही के हाथो मे पूर्णतया केन्द्रित हो गई । वही उनके सच्चे उत्तराधिकारी भी थे । कहना न होगा कि केशव की सुधारवादी प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दता का वातारण पाकर अब पहले से भी अधिक प्रखरता के साथ अपनी अभिव्यक्ति करने लगी । उन्होने अपने नवीन 'समाज' की नीव डालने के शीघ्र ही बाद पुन: सारे देश की एक विशद प्रचार-यात्रा की । उसके परिणामस्वरूप पूर्वीय बगाल, आधुनिक 'उत्तर प्रदेश' तथा पजाब के विभिन्न नगरो मे भी 'समाज' की कई शाखाएँ प्रस्थापित हो गईं । कहते है, इस समय तक सारे भारतवर्ष मे 'ब्राह्म धर्म' को माननेवाले लगभग पचास विभिन्न समाज-मदिर प्रस्थापित हो चुके थे । उनकी देख-रेख मे चालीस पत्र-पत्रिकाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओ मे

निकलती थी। साथ ही कई एक बालक-बालिकाओ की शिक्षण-सस्थाएँ भी सचालित होती थी । यह सब कुछ अधिकाश मे इस सस्था के उस उद्भट नेता केशवचन्द्र के ही जोरदार प्रचार-कार्य तथा सुधारवादी आन्दोलन का सुफल था !

'नवविधान'

तब २४ जनवरी, सन् १८६८ ई०, के दिन कलकत्ते मे 'समाज' के तत्त्वावधान मे एक विशाल नगर-सकीर्त्तन का आयोजन कर इस महान् नेता ने अपने प्रसिद्ध 'नवविधान' की उद्घोषणा की । इस घोषणा द्वारा ब्राह्म समाज की प्रगति के इतिहास मे एक नया चाँद जुड़ा । इस घोषणा मे केशव ने पहले-पहल अपने अतस्तल के उस आदर्श विश्व-धर्म की रूपरेखा का आभास ससार को दिया, जिसके अनुसार ईश्वर के द्वार पर सभी के समान अधिकार और उस परम-पिता की शरण मे आनेवाले प्रत्येक जन के लिए मुक्ति के निश्चित वरदान का आश्वासन दिया गया था !

केशव की धर्म-विचारधारा मे इसके बाद से उदारता की मात्रा दिन पर दिन बढती ही चली गई। उस पर अब स्पष्टतया हिन्दू धर्म से बाहर के मतो की भी—विशेषतया ईसाई मत की—गहरी छाप दिखाई देने लगी, जिसका कि बहुत जोरो का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर युवावस्था के आरभ के समय से ही पड चुका था ! उन्होने अब विशेष रूप से ईसा मसीह के व्यक्तित्व तथा उनकी अलौकिकता के प्रति खुलकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए यह उद्घोषित करना शुरू किया कि हिन्दू धर्म के गभीरतम तत्त्व तथा ईसाइयत के बुनियादी सिद्धान्तो मे वस्तुत कोई विभेद या नही है ।

साथ ही अब उन पर ज्ञान-मार्ग के बजाय विशेष रूप से भक्तिमूलक भावनाओ का ही रग गहराई के साथ चढते दिखाई देने लगा । देखते ही देखते राममोहनराय तथा देवेन्द्रनाथ की ज्ञानमूलक बुद्धिवादी भित्ति से बहुत-कुछ हटकर उनका नवीन 'समाज' अब स्पष्टत. महाप्रभु चैतन्य की भाव-विभोर वैष्णव भक्ति तथा ईसा मसीह की 'मुक्ति-प्रदायिनी' प्रेमधारा के प्रवाह मे ही जोरो के साथ बह चला ! निश्चय ही यह नवीन प्रवृत्ति स्वय उनके अपने नए 'समाज' ही के बहुतेरे उपासको के लिए एक अत्यन्त चौका देनेवाली जैसी बात थी । अब तो वेदो और उपनिषदो के तत्त्वज्ञान के विवेचन के बजाय उसके आँगन मे प्रायः सुनाई पड़ने लगा करताल, मृदङ्ग और इकतारे की धुन मे भक्ति-रस से सने हुए वैष्णव पदो के गायन-कीर्त्तन तथा हरि-सकीर्त्तन का हृदयहारी स्वर ही । उधर प्रवचनों मे भी अब ज्ञान के बजाय भक्ति के ही उद्रेक का मानो ज्वार-सा उमड़ने लगा । तब तो कई पुराने और नए ब्राह्म उपासको के मन मे सहज ही यह शका का प्रश्न रह-रहकर उठने लगा कि आखिर उनका यह नया 'समाज' अपने भावविभोर नेता के उद्दाम भक्ति-प्रवाह मे बहता हुआ कहाँ से कहाँ चला जा रहा था ?

'ईसाइयत' का आरोप

उधर स्वय स्वय केशव का दिन पर दिन यह हाल होता जा रहा था कि प्रायः बोलते-बोलते भावावेग मे अब वह आँसुओ की नदियाँ-सी बहाने लगते और अपनी हृदयगत मार्मिक व्यथा के उद्गारो से पाषाणहृदयो को भी विगलित कर देते ! उनके इस असामान्य भावोद्रेक और अद्भुत आचरण ने लोगो को और भी अधिक चौकाना शुरू किया, जब कि वह खुले आम अब ईसाइयत की पाप, प्रायश्चित्त एव मुक्ति-सबधी विशिष्ट धारणाओ मे अपना प्रबल विश्वास प्रकट करने और स्पष्ट शब्दो मे ईसा की शरण मे आने के लिए मानवता का आह्वान करने लगे ! न केवल भारतीय धर्म के कट्टर उपासको के लिए ही उनकी यह प्रवृत्ति एक घबडा देनेवाली जैसी बात थी, बल्कि स्वय उनके अपने 'समाज' के अतर्गत भी अधिकतर लोग ऐसे ही थे, जो कि इस अबाध प्रवाह मे उनका साथ देने को कदापि तैयार न थे ! अतएव शीघ्र ही वह समय आया, जब कि आलोचको ने खुले आम उन पर यह आरोप लगाना शुरू किया कि वह एक विदेशी धर्म की वेदो पर अपनी बलि चढाकर भारतीय धर्म से एकदम किनारा कस चुके थे और प्रच्छन्न रूप से समाज को ईसाइयत की ओर मोडते चले जा रहे थे !

किन्तु सच पूछो तो यह उनका एक निरा भ्रम ही था। क्योकि यद्यपि यह महापुरुष वास्तव ही मे ईसा की महानता तथा ईसाइयत के मानवधर्म-सबधी उच्च आदर्शो का हृदय से उपासक था, फिर भी सांप्रदायिक दृष्टि से वह कदापि 'ईसाइयत' अथवा किसी भी अन्य मत विशेष का अनुयायी नही था ।

वस्तुतः वह न तो 'ईसाई' ही था, न 'हिन्दू' ही। वह तो अपने पूर्वगामी राजर्षि राममोहनराय या अपने बाद के महामनीषि गाधीजी की भाँति था एक सच्चा विश्वधर्मी, समन्वय का प्रयास करनेवाला एक उदारहृदय विश्व-नागरिक। यदि एक ओर ईसा के ऊँचे व्यक्तित्व मे अपने स्वप्नलोक के आदर्श की परिपूर्णता का नमूना वह देखता था, तो दूसरी ओर अपने महान् समसामयिक युगपुरुष रामकृष्ण के समीप बैठकर तथा हृदयतल से भगवती काली को पुकार-पुकारकर अपनी मर्मव्यथा प्रकट करते भी तो वह देखा जाता था! तो फिर कैसे एक ही किसी सप्रदाय विशेष की परिमित परिधि मे कोई उसे बाँध सकता था? वह तो यथार्थ मे एक धर्मनेता से भी अधिक था एक भावविभोर भक्त—ईश्वर के लिए तडपनेवाला एक सच्चा साधक! यदि उसका कोई दोष था तो केवल यही कि अपने समय की प्रवृत्तियो से वह बहुत आगे बढा हुआ व्यक्ति था! इसीलिए अपने युग के निर्माण मे प्रमुख भाग लेकर भी वह उस युग द्वारा ठीक से समझा और पहचाना न जा सका!

विविध सेवाएँ

अपने पूर्वाचार्य राममोहनराय और देवेन्द्रनाथ की भाँति केशव को भी धर्म के साथ-साथ समाज, शिक्षा, साहित्य आदि सभी क्षेत्रो मे सुधार का हाथ बढाकर हमारे सर्वतोमुखी उत्थान मे योग देने का गौरवपूर्ण श्रेय प्राप्त है। बल्कि इस देश के आधुनिक युग के इतिहास में एक धर्मनेता से कही अधिक एक महान् समाज-सुधारक ही के रूप मे उनकी ख्याति रहेगी। वह सन् १८७० ई० मे कुछ समय के लिए विलायत भी हो आए थे। वहाँ अपनी असाधारण वक्तृत्वशक्ति द्वारा भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति पर गम्भीर रूप से प्रकाश डालकर उन्होने इस देश के प्रति पश्चिम की निगाह खीचने का स्तुत्य प्रयास किया था। जब वह वहाँ से वापस लौटे तो 'इडियन रिफार्म एसोसिएशन' के नाम से एक समाज-सुधारक सस्था की स्थापना कर, उन्होने विविध क्षेत्रो मे सुधार का भारी बीड़ा उठाया। वस्तुतः उनके सुधार के हाथ से समाज का कोई भी अग अछूता न बच सका! उन्होंने ही इस सस्था के तत्त्वावधान मे 'सुलभ समाचार' नामक एक पैसे का सबसे पहला बँगला साप्ताहिक और 'मद ना गरल' नामक एक मद्य-निषेधक मार्मिक पत्र निकाला। उन्होंने शराबखोरी और अन्य दुर्व्यसनों के खिलाफ एक जोरदार आन्दोलन का सूत्रपात किया। स्त्री-शिक्षा के लिए भी कदम बढाकर एक गर्ल्स-स्कूल प्रस्थापित किया। युवको मे जागृति पैदा करने के लिए 'बैंड आफ होप' नामक एक मडल कायम किया। गरीबो के लिए धर्मार्थ औषधि-वितरण का भी सार्वजनिक रूप से प्रबन्ध किया। 'कलकत्ता स्कूल' नामक एक विद्यालय को भी कई दिनो तक चलाया, जो आगे चलकर 'अलबर्ट कॉलेज' के नाम से मशहूर हुआ। दस्तकारी की शिक्षा के लिए एक 'इडस्ट्रियल स्कूल' और श्रमिको के लाभार्थ एक 'मजदूर सस्था' को जन्म दिया। इनके अलावा 'अलबर्ट इस्टीट्यूट', 'विक्टोरिया कॉलेज', 'भारत-आश्रम', 'ब्राह्म निकेतन' आदि-आदि न जाने कितनी ही अन्य सामाजिक सस्थाओ के निर्माण मे भी उन्होने हाथ लगाया, जिनका कि पूरा विवरण देने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान ही नही है!

'ब्राह्म मेरेज ऐक्ट'

परन्तु स्थायी महत्त्व और मूल्य की दृष्टि से उनके हाथो जो सबसे स्मरणीय सुधार-कार्य हुआ, वह था सन् १८७२ ई० का सुप्रसिद्ध 'विवाह कानून' (ब्राह्म मेरेज ऐक्ट—३), जिसके निर्माण मे उन्होने विशेष रूप से योग दिया था। इस कानून के द्वारा बालविवाह की प्रथा मिटाने, बहुविवाह को अपराध करार देने और विधवा-विवाह तथा अतर्जातीय विवाह को बढावा देने मे काफी हद तक सहायता पहुँची थी। वस्तुत. राममोहनराय की तरह केशव भी स्त्रियों के एक महान् हितैषी थे और अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ ही से महिलाओ के उत्थान के सबध मे उन्होने काफी प्रयास किया था। उन्होने पडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा उठाए गए विधवा-विवाह सबधी आदोलन का डटकर समर्थन किया था, यहाँ तक कि इस सबध मे एक बार एक नाटक भी खेला था! १८६३ ई० मे 'वामाबोधिनी' नामक एक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्रिका भी उन्होने निकालना शुरू किया था। उधर पर्दा-प्रथा को तोडने के प्रयास मे तो, जैसा कि पिछले पृष्ठो मे कहा जा चुका है, पहले-पहल अपनी धर्मपत्नी को बाहर लाते समय उन्हे अपने परिवार

के हाथो घर से बाहर निकाल दिए जाने तक का दण्ड भुगतना पडा था !

धर्म और समाज की भाँति साहित्य के क्षेत्र मे भी अपनी वाणी और लेखनी के प्रसाद के रूप मे वह एक स्थायी सपत्ति हमे दे गए। इसका साक्षी उनके द्वारा बँगला और अग्रेजी मे रचित वह विशाल वाङ्मय है, जिसमे उनकी समस्त वक्तृताएँ और लेखादि सगृहीत है। केशव की भाषा अत्यन्त सरल साथ ही भावना के रस मे ऐसी पगी हुई-सी रहती थी कि सुननेवालो को उसमे काव्य का-सा आनन्द आने लगता था। तभी तो उनकी मधुर वाणी का रसास्वादन करने के हेतु बकिमचन्द्र चटर्जी जैसे साहित्य-महारथी और विवेकानन्द जैसे उद्भट विचारक भी कभी-कभी उनके श्रोताओ की मडली मे बिना बुलाए ही बैठे देखे जाते थे ! अपने जीवन के अतिम दिनो मे 'नवसहिता' और 'जीवनवेद' नामक दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उन्होने प्रकाशित की थी। उनमे उनके व्यक्तित्व और विचारो की अच्छी झलक हमे देखने को मिल सकती है। इनके अलावा उनकी वक्तृताएँ भी साहित्य की एक स्थायी सपत्ति है। विवेकानन्द के व्याख्यानो की तरह युवको के लिए नवप्रेरणा की प्रचुर सामग्री उनमे पाई जा सकती है।

'कूचबिहार-प्रसंग', 'द्वितीय विभाजन' और अंत

यह हमारा बहुत बडा दुर्भाग्य था कि इस भूमि के अन्य अनेक महान् सपूतो की भाँति यह असाधारण प्रतिभाशाली लोकनायक भी अधिक काल तक हमारे बीच जीवित न रह सका। उसने केवल ४६ वर्ष की आयु ही मे ८ जनवरी, १८८४ ई०, के दिन सदा के लिए अपनी आखे मूँद ली ! उसकी इस आकस्मिक मृत्यु का मुख्य कारण उसके जीवन के अन्तिम दिनो मे कूचबिहार के महाराजा के साथ उसकी एक अल्पवयस्का कन्या के विवाह के फलस्वरूप ब्राह्म समाज मे उठनेवाले एक घोर विरोधी आन्दोलन तथा उसी के परिणामस्वरूप 'साधारण ब्राह्म समाज' के रूप मे अनेक असतुष्ट ब्राह्म उपासको के उसमे अलग हो जाने की वह सुविख्यात घटना थी, जिसने कि उसके हृदय को एक असामान्य आघात पहुँचाकर मानो टूक-टूक कर दिया था ! वह घटना क्योकर घटी और किस प्रकार ब्राह्म समाज के इस 'द्वितीय विभाजन' के बाद प्रतापचन्द्र मजूमदार, आनन्दमोहन बोस, शिवनाथ शास्त्री आदि अपने भावी नेताओ के तत्त्वावधान मे इस महान् सस्था की नौका आगे बढकर आज के युग तक आ पाई, यह हमारे प्रस्तुत प्रसग से परे का विषय है। अतएव उसका विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नही !

महान् विश्व-धर्मी

महामना केशव का परिचय सक्षेप मे यही कहकर दिया जा सकता है कि वह थे अपने युग के समाज-सुधार तथा धर्म-सस्कार विषयक प्रयासो के एक प्रधान अग्रणी, अपने देश के सास्कृतिक उत्थान मे योग देनेवाले एक क्रातिकारी चिन्तक तथा अपने युग के एक असाधारण वक्ता, लेखक, साधक और सत। वह समन्वय का सदेश सुनानेवाले एक महान् मानवधर्मी थे, जिन्होने कि पूर्व और पश्चिम को एक तारतम्य मे जोड देने का ही जीवनभर प्रयास किया।* अपने बाद आनेवाले महामनस्वी विवेकानन्द की भाँति वह भी धर्म ही को सामाजिक सुधार की मूल भित्ति बना देने के लिए उत्कठित थे। जीवनभर यही महान् लक्ष्य उन्होने अपने सामने रक्खा कि मनुष्य के साधारण दैनिक लोक-जीवन मे पुनः धर्म की प्राणप्रतिष्ठा हो ! दुर्भाग्यवश उनके अपने युग ने उनके ध्येय की ऊँचाई को ठीक से समझा ही नही। परन्तु निश्चय ही एक दिन वह भी आएगा, जबकि न केवल यह देश ही बल्कि सारा ससार समन्वय और एकता के इस पैगम्बर की शिक्षा का यथार्थ मूल्य आँकेगा और उसके आदर्श को अपनाने की कोशिश करेगा !

***विश्व-धर्मी केशवचन्द्र की सार्वदेशिकता और संसार के सभी महान् धर्मों के प्रति उनकी आस्था का बहुत-कुछ आभास हमें इस बात मे मिलता है कि उन्होने अपने चार चुने हुए शिष्यो को विशेष रूप से संसार के चार विभिन्न महान् धर्मों का अध्ययन करने के लिए तैयार किया था—१. हिन्दू धर्म के लिए उपाध्याय गौड़ गोविन्दराय को, जिन्होंने गीता पर एक संस्कृत टीका और भगवान् श्रीकृष्ण की एक सुन्दर जीवनी लिखी थी; २. बौद्ध धर्म के लिए साधु अघोरनाथ को, जिन्होने बुद्ध का एक जीवन-चरित्र तैयार किया; ३. इस्लाम के लिए भाई गिरीशचन्द्र सेन को, जिन्होने कुरान का अनुवाद कर हजरत मुहम्मद की जीवनी लिखी; और ४. ईसाई मत के लिए प्रतापचन्द्र मजूमदार को, जिन्होने "ओरिएण्टल क्राइस्ट" नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी !**

जिन दिनों हमारे सास्कृतिक वातावरण मे एक ओर श्रीरामकृष्ण परमहस जैसे महासाधक और दूसरी ओर ऋषि दयानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन जैसे सुधारको के प्रादुर्भाव से पुनः नवजीवन का स्वर स्पदित होने लगा था, रत्न-प्रसूता भारतभूमि की कोख से उन्ही दिनो एक और प्रात.स्मरणीय महापुरुष ने जन्म लिया। इस अप्रतिम महामनीषि की दिव्य देन की आभा से हमारा आँगन फिर से एक बार उसी प्रकार जगमगा उठा, जिस प्रकार बारह सौ वर्ष पूर्व अन्य एक तपोपुज लोकशिक्षक--शकर—को पाकर दमक उठा था! उन्ही की तरह इस महामनस्वी की वैखरी वाणी ने भी अल्पकाल मे वह चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया, जो साधारण जनो द्वारा सभवत: शताब्दियो तक प्रयत्न करने पर भी सपन्न नही किया जा सकता था! उसने अपनी गगनभेदी हुकार द्वारा न केवल इस देश के ही कोने-कोने मे प्रत्युत सुदूर अमेरिका और योरप तक वेदो और उपनिषदो के प्राचीन आत्मज्ञान का सदेश गुँजा दिया! साथ ही अपनी ज्वलन्त शिक्षा की चिनगारियो से इस देश की प्रसुप्त आत्मा के अतराल मे क्रान्ति के स्फुल्लिङ्ग जगाकर, परोक्ष भाव से उसने हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के यज्ञ मे भी एक प्रखर योग दिया। यदि यह कहा जाय कि धर्म और दर्शन की भाँति राजनीति के क्षेत्र मे भी वह हमारा एक प्रमुख शिक्षागुरु था, तो इस कथन मे कोई अत्युक्ति न होगी !

उसकी 'उठो, जागो' की ललकार ने हमे अपने सामयिक राष्ट्रीय कर्त्तव्यो को पहचानने और इस हीनावस्था से ऊपर उठने की एक सबल प्रेरणा दी। और उसके उस वेदान्त-विषयक महापाठ ने तो भौतिकवाद की भूलभुलैया मे फँसे हुए सारे ससार के लिए मुक्ति का एक ऐसा मार्ग निर्दशित कर दिया,

विवेकानन्द

जिसे अपना लेने पर मनुष्य-मात्र के लिए फिर अन्य किसी राह को खोजने की आवश्यकता ही नही रह जाती ! इस प्रकार वह हमारे बीच एक महान् देवदूत के रूप मे उतरा और आज की इस मोह-निद्रा से झकझोरकर वह हमे सुना गया फिर से वही अनादिसिद्ध कर्मसदेश, जो पाँच हजार वर्ष पूर्व समराङ्गण मे हथियार फेक देनेवाले विषादयुक्त अर्जुन के प्रति उपदेश के बहाने स्वयं जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कभी हमे सुनाया था!

इस महापुरुष का असली नाम तो था 'नरेन्द्रनाथ दत्त', किन्तु आज विरला ही कोई इस नाम से उसे पहचान पाएगा ! कारण, जिस प्रकार उसका पूर्ववर्त्ती काठियावाड का वह क्रान्तदर्शी ब्राह्मण 'मूलशकर'

आज के दिन केवल 'दयानन्द' ही के नाम से पहचाना और याद किया जाता है, हमारी जागृति का यह दूसरा महान् नेता भी उसी तरह अपने सन्यास-काल के नाम—'विवेकानन्द'—द्वारा ही अधिक प्रसिद्ध है। उसका जन्म १२ जनवरी, सन् १८६३ ई०, के दिन कलकत्ते के एक सुसस्कृत बगाली कायस्थ (क्षत्रिय) परिवार मे हुआ था। अतः तिथिक्रम की दृष्टि से वह भी उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल के उस चिर-स्मरणीय दशाब्द की ही उपज था, जिसमे क्रमश रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, प्रफुल्लचन्द्र राय, मदनमोहन मालवीय, गोपालकृष्ण गोखले, मोहनदास कर्मचन्द गाधी और चित्तरजन दास आदि हमारे इतिहास के आधुनिक पर्व के अन्य अनेक लोकनायक भी पैदा हुए थे।

माता-पिता और दादा की देन

नरेन्द्र के पिता—विश्वनाथ दत्त—नई रोशनी के एक प्रगतिशील व्यक्ति थे। उन पर पाश्चात्य बुद्धिवादी विचारधारा और तत्कालीन युवक-समाज के विशेष श्रद्धाभाजन सुप्रसिद्ध तत्त्वदर्शी हर्बर्ट स्पेन्सर का विशेष रूप से प्रभाव जमा हुआ था। इसी प्रकार उसकी मा भी सुतीक्ष्ण व्यावहारिक बुद्धि की एक सुसस्कृत महिला थी। प्रत्येक भारतीय स्त्री की भाँति हृदय मे धर्मपरायणा होते हुए भी वह कट्टरपथियो की तरह धर्मान्ध कदापि न थी। वह थी एक सच्ची क्षत्राणी की भाँति प्रखर आत्माभिमान, चरित्र-बल और कर्त्तव्यनिष्ठा की एक ऐसी जीती-जागती प्रतिमा कि नरेन्द्र बाद को सदैव ही यह कहता रहा कि 'यदि मेरे जीवन और कार्य के पीछे चिरन्तन रूप से प्रेरणा देते रहनेवाली कोई शक्ति रही है, तो वह है मेरी माँ!'

इस प्रकार की उच्च सास्कृतिक पारिवारिक पृष्ठभूमि मे पनपकर हमारा यह उद्भट चरित्रनायक आरभ ही से मानो एक विशिष्ट प्रकार के सुनिश्चित साँचे मे ढल गया। वह एक ओर तो पिता के प्रखर बुद्धिवाद के रग मे नख से शिख तक रँगकर एक विचक्षण तत्त्वचिन्तक और दिग्गज तार्किक बन गया। दूसरी ओर माता के प्रबल क्षात्र सस्कारो को लेकर नैतिक शक्ति, साहस और कर्मठता की भित्ति पर स्थापित एक ऐसे वज्रतुल्य चरित्र के ढाँचे मे सदा के लिए गठित हो गया कि जीवनभर कभी भी कोई उसे अपने अतस्तल के विवेक की राह से न डिगा सका! परन्तु इन दोनो ही जन्मजात सास्कारिक प्रभावों से भी कहीं गहरा और युगान्तरकारी प्रभाव, जो कि उसके चरित्र पर पडा, सभवतः उसके निवृत्तिमार्गी पितामह (दादा) के द्वारा बोए गए गुप्त सस्कार-बीजो का था। कहते है, यह महापुरुष पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही मे स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदि मे किनारा कसकर विधिवत् सन्यासी बन चुके थे! निश्चय ही उन्ही के प्रच्छन्न पैतृक सस्कारो मे परोक्ष रूप मे प्रभावित होकर ही अत मे 'नरेन्द्र' आध्यात्मिकता के उस धधकते कल्याण-मार्ग का राही बना, जिसने एक दिन उसे बदलकर 'विवेकानन्द' मे परिणत कर दिया! किन्तु इसके पहले कि हम उसके जीवन की उस महान् परिणति की अमर कहानी का पृष्ठ खोले, आइए, सक्षेप मे उसके विकास की आरभिक सीढियो की भी एक झाँकी देख ले, ताकि हम यह जान सके कि तप और त्याग की आँच मे लगातार कितने दिनो तक अपने आपको तपाने के बाद यह महामनस्वी अत मे स्वस्वस्तिक की उस ऊँचाई तक उठ पाया, जिस पर आज हम इतिहास मे उसे प्रतिष्ठित देखते है!

असाधारण व्यक्तित्व

नरेन्द्र का बचपन और उसकी युवावस्था का आरभकाल, उसके महान् चरित्र-लेखक रोम्या रोलाँ के शब्दो मे, योरप के पुनरुज्जीवन-युग के किसी कलाकार राजपुत्र के जीवन-प्रभात की याद दिलानेवाला एक रोमाचक काल था! यह अद्भुत प्रतिभावान् युवक कुछ तो अपने जन्मजात ऊँचे-पूरे सुडोल क्षात्र शरीर तथा तेजस्वी आकृति के कारण, और कुछ अपने महामेधावी मस्तिष्क एव सभी विद्याओ और कलाओ मे अपनी असामान्य प्रवीणता की दृष्टि से, शतश. एक सुसस्कृत आदर्श राजकुमार जैसा ही प्रतीत होता था। उसके व्यक्तित्व मे ऐसा कुछ जादू और बल था कि न केवल उसके अपने सहपाठी ही प्रत्युत कलकत्ते के समसामयिक समाज की उठती हुई पीढी के अधिकाश तरुण उसे अपना स्वाभाविक नेता मानते थे और उससे लोहा लेते हुए भय खाते थे! वह कुश्ती-व्यायाम, घुडसवारी, तैरने, नाव खेने, गाने-बजाने, नाचने और अभिनय करने की कलाओ से लेकर साहित्य, काव्य, गणित, विज्ञान, इतिहास,

दर्शन आदि सभी विद्याओ मे समान रूप से पारङ्गत था। वह वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क करने मे तो ऐसा निपुण था कि उसकी युक्तियों की बौछार के आगे दिग्गज तार्किक भी घुटने टेक देते थे।

किंतु इतना सब-कुछ होने पर भी अपने अतस्तल की गहराई मे वह आत्म-सुख का अनुभव नही कर पाता था। वह निरतर उद्विग्न और अशात ही रहता! कारण, कोरी दिमागी उधेड-बुन ही से सतुष्ट हो जानेवाला व्यक्ति वह न था। वह था ढाई हजार वर्ष पूर्व के कपिलवस्तु के राजपुत्र सिद्धार्थ की भाँति एक अतृप्त आध्यात्मिक प्यास, एक अलौकिक जिज्ञासा और आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक तथा जीवन-मुक्ति विषयक एक अनिर्वचनीय हूक से निरन्तर आन्दोलित-विलोडित एक सच्चा सत्यशोधक। वह इस अनवरत गतिशील ससृति से परे के शाश्वत तत्त्व का रहस्य जानने के लिए वैसा ही आतुर और व्यग्र था, जैसे कोई भक्त अपने भगवान् से मिलने के लिए हो!

संशयवाद के दलदल मे

हाँ, यह एक बात उसमे अवश्य थी कि आरम्भ ही से गहराई के साथ विचार-स्वातत्र्य और बुद्धिवादी तर्क-वितर्क के रङ्ग मे रंग जाने के कारण कोरी श्रद्धा या विश्वास ही के बल पर किसी भी मत विशेष को स्वीकार कर लेने को वह सहमत नही हो पाता था! तभी तो विविध धर्मो की उसने डटकर छानबीन की। घटो एकान्त मनन-चिन्तन और ध्यान-साधन द्वारा अपना हृदय-मन्थन किया। तरह-तरह की धार्मिक साधनाओ की कसौटी पर अपने आपको कसने का प्रयास किया। पूर्व और पश्चिम की न जाने कितनी तत्त्व-सबधी पोथियाँ उलटी-पलटी। समसामयिक पण्डितो से तर्क-युद्ध मे डटकर लगातार लोहा लिया! यहाँ तक कि हर्बर्ट स्पेसर जैसे दार्शनिक के साथ भी उसने पत्रव्यवहार किया और सुप्रसिद्ध ब्राह्म समाज एव उसके महान् कर्णधार केशवचन्द्र सेन का भी द्वार खटखटाया! पर इतने पर भी जब इस तरुण जिज्ञासु की आध्यात्मिक शकाओ और सप्रश्नो का समाधान नही हो पाया, तब धीरे-धीरे आस्तिकता और श्रद्धा के मार्ग से एकदम किनारा कसकर उसने घोर सशयवाद और नास्तिकता के गर्त्त की ओर ही तेजी से डग भरना शुरू किया!

श्रीरामकृष्ण से भेट

किंतु नियति का विधान तो कुछ और ही था! कहते है, इन्ही दिनो दैवयोग से अनायास ही एक दिन कलकत्ते के अपने एक मित्र के घर किसी धर्मोत्सव के अवसर पर इस तरुण विद्रोही की दक्षिणेश्वर के सत—श्रीरामकृष्ण—से भेट हो गई। उस आकस्मिक सम्मिलन के साथ ही मानो उसके जीवन-पथ का अवरुद्ध द्वार खुल गया! वह गायन की कला मे तो प्रवीण था ही। अतएव उस दिन भी सबके आग्रह करने पर उसने वहाँ कुछ गा सुनाया। उसके उस मधुर सगीत का भावमूर्ति रामकृष्ण के सवेदनशील हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पडा कि आनन्दविह्वल हो वह लोटपोट-से हो गए। वही कुछ क्षणो के लिए उनकी समाधि तक लग गई!

वस्तुत उस पहले-पहल के क्षणिक ससर्ग ही मे उन्होने इस तेजस्वी युवक के व्यक्तित्व की ओट मे छिपे हुए अपने भावी महान् शिष्य और उत्तराधिकारी को पहचान लिया था। तभी तो मानो शीघ्र ही उसे अपनी परिधि मे खीच ले आने का निश्चय कर, चलते समय वह उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक दक्षिणेश्वर आकर फिर मिलने का हार्दिक निमत्रण दे गए!

यह निमत्रण क्या था, मानो किसी भूलभुलैया मे भटकते हुए बटोही के लिए उलझन की स्थिति से बाहर निकलने के वास्तविक मार्ग के निर्देश का एक आशीर्वाद-सूचक वरदान था, यद्यपि स्वय नरेन्द्र को उसके महत्त्व और मूल्य का अभी तनिक भी भान न था। वह तो सच पूछो तो उस दिन के उस आकस्मिक सम्मिलन के समय इस अर्द्धविक्षिप्त-से अशिक्षित ब्राह्मण के प्रति जरा भी आकर्षित नही हो पाया था! और उसकी अपनी प्रखर आलोचनात्मक बुद्धि की तर्क-दृष्टि मे भला वह अति-भावुकता का जीता-जागता नमूना नरेन्द्र को जँचता भी तो कैसे? परन्तु विधि का विधान ही तो था कि लाख अनिच्छा होने पर भी कुछ ही दिन बाद न जाने किस गुप्त अलौकिक शक्ति के जादू से मानो बरबस खिचकर, हमारे इस तरुण चरितनायक को एक दिन उस सत के द्वार पर जाना ही पड़ा। वह अपने कुछ सहपाठियो के साथ आखिर एक दिन दक्षिणेश्वर जा ही पहुंचा और इस बार की मुलाकात मे उस पगले साधु के अनोखे व्यक्तित्व की जो झलक

उसे देखने को मिली, उससे महज ही उसकी छिपी हुई महानता के प्रति अपने मन मे एक विस्मययुक्त सम्मान का भाव लाये बिना वह न रह सका !

श्रीरामकृष्ण का अनूठा बर्त्ताव

श्रीरामकृष्ण तो मानो अपने इस भावी शिष्य की प्रतीक्षा ही मे थे, अतएव उन्होने अपना हृदय का पट खोल अतस्तल का सारा स्नेह उस पर उँडेल दिया ! कहते है, इस बार भी जब उनके अत्यधिक अनुरोध करने पर उसने अपने मधुर कण्ठ से कुछ गा सुनाया, तो पहले ही की तरह फिर मत्रमुग्ध-से हो वह कुछ समय के लिए समाधि मे लीन हो गए। जब होश आया तो एकाएक उठकर हाथ पकड़ वह उसे मदिर के उत्तरी बरामदे के एकान्त मे लिवा ले गए। वहाँ एकबारगी ही आनद के मारे आँसुओ की झडी-सी लगाकर वह बच्चो की तरह रोने लगे और ऐसी घनिष्टता के साथ, जैसे कि बरसो से उसे जानने-पहचानते रहे हो, कहने लगे—'आह, तुमने आने मे इतनी देर क्यो लगा दी ? क्यो निर्मम की तरह अपनी प्रतीक्षा मे मुझे अब तक तडपाये रक्खा ? हाय, दूसरो की व्यर्थ की बकवास सुनते-सुनते मेरे कान कितने पक गए है ! कब से किसी योग्य व्यक्ति के उर मे अपनी आन्तरिक अनुभूतियो का मर्म उँडेल देने के लिए मै अकुला रहा हूँ ?'

नरेन्द्र जैसे नई रोशनी के बुद्धिवादी जीव के लिए इस प्रकार का अतिभावुकता का बर्त्ताव निश्चय ही रुचिकर नही हो सकता था। जब भावना के प्रवाह मे रामकृष्ण उसे प्राचीन 'नर-नारायण ऋषि' का अवतार बताते हुए अलौकिकता के रग मे रँगी हुई और भी न जाने क्या-क्या बाते कह गए, तब तो नरेन्द्र इस अर्द्ध-विक्षिप्त जैसे गँवार साधु से शीघ्र ही पिण्ड छुड़ाकर वहाँ से भाग निकलने के लिए बेचैन हो उठा ! उसे उस अपरिचित व्यक्ति का वह अयाचित स्नेह-प्रदर्शन बिल्कुल ही अच्छा न लगा !

'हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखों से देखा है'

इसीलिए जब अत मे रामकृष्ण ने अनुनय-भरे स्वर मे कहा कि 'वचन दो कि शीघ्र ही फिर आकर मिलोगे और अब की बार अकेले ही,' तो कहने को तो अपनी जान छुडाने के लिए उसने हामी भर ली, पर सच पूछो तो मन ही मन वह यही निश्चय कर चुका था कि अब फिर कभी भूलकर भी इस पगले के पास तक नही फटकूँगा !

किन्तु इसी समय चलते-चलते इस कुतूहलभरे प्रश्न के उत्तर मे कि 'आखिर, आपने कभी अपनी आँखो से ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा भी है,' जब काली के उस पुजारी के मुँह से यह जवाब निकलते उसने सुना कि 'हाँ, क्यो नही ! मैने तो हूबहू वैसे ही उसे देखा है, जैसे इस समय अपने सामने तुम्हे देख रहा हूँ,' तब तो उसकी अब तक की बातो को केवल पागल का प्रलाप समझनेवाला यह तार्किक आँखे फाड़कर विस्मय के साथ उसकी ओर देखे बिना न न रह सका !

वस्तुत. तार्किक नरेन्द्र को अपनी अब तक की सारी छान-बीन मे केवल यही एक आदमी आज पहले-पहल ऐसा मिला था, जो डके की चोट पर यह कहने का साहस रखता था कि 'हाँ, मैंने ईश्वर को अपनी आँखो से प्रत्यक्ष देखा है और मेरी तरह जो कोई भी चाहे उसका साक्षात्कार कर सकता है !'

'निश्चय ही ऐसा आदमी कोई मामूली आदमी नही हो सकता—उसके व्यक्तित्व मे अवश्य ही महानता के बीज छिपे होने चाहिएँ,' नरेन्द्र ने सोचा, और वह मन ही मन कहने लगा, 'माना कि इस व्यक्ति का दिमाग ठीक नही है और वह सचमुच ही पागल है, फिर भी वह है महान् ही ! वह चाहे विक्षिप्त ही हो, फिर भी सम्मान ही के योग्य है !' इस विचार के उदय होते ही उस महान् साधु के सरल निष्कपट व्यक्तित्व के आगे इस युवा जिज्ञासु का मस्तक अपने आप ही एक सहजजात आदर के भाव से झुक गया !

श्रद्धा-मार्ग का पथिक

इसके बाद तो समय बीतते ज्यो-ज्यो वह उस सत के अगाध तपोबल और आध्यात्मिक तेज के दुर्द्धर्ष आकर्षण से खिचकर उसके अधिकाधिक निकट सपर्क मे आता गया, त्यो-त्यों एक के बाद एक उसके अतस्तल की गुत्थियाँ अपने आप ही खुलती गई और उसकी तर्कबुद्धि की इमारत की एक-एक ई ट क्रमशः खिसकती चली गई। यहाँ तक कि एक दिन आया, जब स्वय अपने ही हाथो उस कारागार-रूपी तर्कवितर्कमूलक शुष्क बुद्धिवाद के किले को तोड़कर यह तरुण सत्यार्थी अपने महान् गुरु की भाँति श्रद्धा-मार्ग का पथिक बन गया—वह एक सच्चे प्रज्ञावान् साधक एव ज्ञानयोगी मे परिणत हो

गया ! किन्तु उसका यह आध्यात्मिक कायापलट का क्रम एकबारगी ही सहज में सिद्ध हो गया हो, सो नही था ! वस्तुत: अपनी इस महान् परिणति के लिए नरेन्द्रनाथ को पूरे छः वर्ष तक अपने उद्भट शिक्षक के चरणो मे बैठकर साधना का कठोर पाठ पढना पड़ा एव स्वत: अपने साथ भी घोर सघर्ष करना पड़ा।

गुरु-शिष्य का अलग-अलग ढाँचा

आरभ में तो एक-दूसरे मे बिल्कुल विपरीत बौद्धिक साँचो मे ढले हुए गुरु-शिष्य के मस्तिष्को मे मेल खाना एक कठिन समस्या बन गई। कारण, यदि एक था असीम श्रद्धा और भावना का साक्षात् अवतार, तो दूसरा मूर्तिमान् तर्क-वितर्क और बुद्धिजन्य ऊहापोह का ही प्रतीक था। एक साक्षात् पूर्व था, तो दूसरा था एकदम पश्चिम। एक भावविभोर भक्त था, तो दूसरा विशुद्ध ज्ञान का ही उपासक था। एक यदि काली की उस पाषाण-प्रतिमा ही मे परम शक्ति की अनुभूति कर सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार दोनो ही रूपो मे परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का दावा करता था, तो दूसरे को यथार्थत: ईश्वर की सत्ता ही मे प्रबल अविश्वास और सदेह था !

फिर भी न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से विवश हो लोहे और चुम्बक की तरह एक-दूसरे से बँधकर वे परस्पर खिचे चले जा रहे थे ! इसीलिए जब उद्धत शिष्य अकाट्य युक्तियो की मानो बौछार-सी छोडता हुआ यहाँ तक कह बैठता कि 'आखिर इस बात का ही क्या सबूत है कि आपकी ये सारी अनुभूतियाँ केवल आपके अस्वस्थ मस्तिष्क ही की उपज मात्र या विक्षिप्तावस्था की निरी भ्रान्ति नही है,' तो बेचारे रामकृष्ण मन ही मन भगवती से केवल यह प्रार्थना भर करके रह जाते थे—'माँ, क्यो नही तुम नरेन्द्र को अपनी मोहिनी माया का भी कुछ प्रसाद दे देती, ताकि उसका यह बुद्धिजन्य मस्तिष्क का बुखार कुछ शान्त हो जाय ?'

'शिव-शिव' की रट

और शीघ्र ही वह समय आया, जब नरेन्द्र का वह आत्यन्तिक तर्कवादिता का ज्वर शांत हो गया। यही नही, रामकृष्ण की भाँति स्वय उस पर भी अब उस विचित्र भावावेग का रङ्ग गहराई के साथ चढने लगा, जिसे वह अब तक केवल विक्षिप्त दिमाग की उपज या मात्र पागलपन बताता आ रहा था ! कहते है, एक दिन वह अपने एक साथी के आगे मुँह बना-बनाकर व्यङ्ग मे ईश्वर की सर्वव्यापकता-सम्बन्धी भावना की खिल्ली उड़ाते हुए यह कहकर ठठोली कर रहा था कि 'देखो जी, यह घड़ा भी ईश्वर है और ये मक्खियाँ भी ईश्वर है,' इतने मे अचानक पास के एक कमरे से निकलकर अर्द्ध-चेतनावस्था की-सी दशा में रामकृष्ण वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने नरेन्द्र को छू लिया और बस वैसे ही उसके मस्तिष्क मे एक ऐसा बवडर-सा उमड़ पडा कि अब जिधर भी वह अपनी आँखे दौड़ाता, उसे सब-कुछ केवल ईश्वरमय ही दिखाई देता था ! उसे हर चीज मे ईश्वर ही ईश्वर की प्रतीति होती थी ! इस दशा मे वह लगातार कई दिनो तक बना रहा। इसके बाद भी कुछ दिनों तक पागलो की तरह केवल 'शिव-शिव' ही की रट वह लगाता रहा !

सच तो यह था कि अपने गुरु की उस धधकती हुई आध्यात्मिकता की आँच के आगे उसका वह फौलादी मस्तिष्क अब मोम की तरह नरम पड़कर क्रमश: उन्ही के प्रतिबिम्ब से प्रत्याङ्कित होने लगा था। जीवन में पहले-पहल वह इस गम्भीर सत्य की सार्थकता का अनुभव करने लगा था कि मानवीय तर्क-बुद्धि की परिधि से परे भी जानने और अनुभव करने योग्य एक ज्वाज्वल्यमान वस्तु है, किंतु उस अतीन्द्रिय वस्तु के ज्ञान के लिए हमारे साधारण बुद्धिगत साधन ही पर्याप्त नही है !

इस नवीन आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश मे जब नरेन्द्र ने अपने उस महान् पथप्रदर्शक की ऊँचाई को नापने का प्रयास किया तो यह देखकर एकबारगी ही उसे दङ्ग रह जाना पड़ा कि बाहरी रङ्ग-ढङ्ग से केवल विशुद्ध भक्त जैसा दिखाई देनेवाला वह सत यथार्थ मे अपने व्यक्तित्व की तह मे छिपा हुआ एक पहुँचा हुआ क्रातदर्शी ज्ञानी और दिव्यदृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ ऋषि था !

पारिवारिक संकट :: गृह-त्याग का निश्चय

इसी बीच सन् १८८४ ई० मे पिता की असामयिक मृत्यु तथा उनके द्वारा छोडे गए भारी अर्थ-सकट के फलस्वरूप नरेन्द्रनाथ के जीवन मे पारिवारिक समस्याओ का एक जजाल उठ खडा हुआ। इस सकट ने ससार की वस्तुस्थिति का यथार्थ साक्षात्कार कराकर और भी अधिक त्वरा के साथ अपने निर्धारित कल्याण-पथ पर बढ चलने के लिए उसे उभाड दिया। कहते है, महीनो यहाँ से वहाँ

जूतियाँ चटकाते हुए काम की तलाश करते रहने पर भी इस महामेधावी को कलकत्ते जैसी उस विशाल नगरी मे सामान्य भरण-पोषण करने योग्य एक स्थायी नौकरी तक न मिल सकी ! एक दिन तो बिना खाए-पिए ही दिन भर की दौड-धूप से चूर हो, ज्वर की दशा मे वह पसीने से लथपथ एक सडक के किनारे चलते-चलते लुढक पडा । उस समय अपने चारो ओर केवल अन्याय, असमानता, निराशा और दुःख-दैन्य का ही घटाटोप छाया देखकर आत्मग्लानि से उसका चित्त लबालब भर गया !

किन्तु आत्म-वेदना की उस चरम अवस्था ही मे अनायास ही मानो उसके अतर्पट के किवाड खुल गए और उसी क्षण एकबारगी ही उसके हृदय के आँगन मे आध्यात्मिकता का एक ऐसा अपूर्व ज्वार-सा उमड पडा कि उसमे सराबोर हो वह अपने उस दु ख-दैन्य को सर्वथा भूल गया ! उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके अतस्तल का वह परदा, जो अपने आवरण मे उसकी आत्मा को अब तक प्रगाढ रूप से ढाँपे हुए था, एकबारगी ही फट पडा हो । जान पडा मानो खोए हुए चक्षु पाकर एकाएक वह अधकार से पुनः प्रकाश मे आ गया हो ! साथ ही सूर्य की प्रखर रश्मियो के आगे बिखर पडनेवाली मेघमाला की तरह उसकी अब तक की सारी शकाएँ और समस्याएँ भी उसे छिन्न-भिन्न होते जान पडी । उसे अब अपना मार्ग और ध्रुव-बिन्दु दोनो ही एकदम स्पष्ट और सुनिश्चित-से सामने झलकते हुए दिखाई देने लगे । कहते है, घर पहुँचकर उस दिन की सारी रात उसने ध्यान और मनन-चिन्तन ही मे बिता दी । सुबह होते-होते तो इस दु.खमूलक ससार से सदा के लिए किनारा कसकर अपने निवृत्तिमार्गी पितामह की भाँति गेरुआ पहन विजन की राह लेने का दृढ सकल्प वह अपने मन मे कर चुका था !

निर्विकल्प समाधि

किन्तु उसके महान् गुरु उसे अभी इतनी जल्दी सन्यास ग्रहण करने की अनुमति देने को तैयार न हुए ! उन्होने कहा—'मै जानता हूँ कि तुम गृहस्थ-जीवन मे नही रहने के, फिर भी कम-से-कम मेरी ही खातिर, जब तक कि मै मौजूद हूँ, अभी उससे तुम किनारा मत कसो !' और अपने परिवार के अर्थ-सकट के निवारण के लिए उन्होने उससे भगवती महाशक्ति की आराधना करने का अनुरोध किया । लेकिन नरेन्द्र का तो इस समय तक वस्तुत. ऐसा कायापलट-सा हो गया था कि तीन बार वह गुरु के इस आग्रह का पालन करने के लिए उस जगद्धात्री के सामने गया और तीनो ही बार अपने दु.ख-दर्द के छुटकारे के लिए प्रार्थना करना भूलकर आत्म-विस्मृत हो केवल उस महामाया के दर्शन से प्राप्त चिदानन्द मे ही वह तवलीन हो गया !

उस दिन से मानो उसकी सारी जीवन-दिशा ही पलट गई । अब उसने सपूर्ण रूप से श्रीरामकृष्ण के ही हाथो मे अपने आपको समर्पित कर दिया । कालान्तर मे गुरु के साथ उसका ऐसा एकीकरण हो गया कि वे दोनो अब प्राय. एक मे दूसरे का प्रतिबिम्ब देखने लगे । इस प्रकार एक के बाद एक साधन-पथ की मजिले पार करते हुए, वह भी रामकृष्ण की भाँति निर्विकल्प समाधि की उस उच्च भूमिका तक ऊपर उठ गया, जहाँ तक विरले ही कोई भाग्यशाली कभी पहुँच पाते है । उस तुरीयावस्था के ब्रह्मानन्द मे निमग्न हो जीवन भर अलख जगाते रहने का ही सकल्प अब उसने मन ही मन कर लिया !

'नरेन्द्र' से 'विवेकानन्द'

किन्तु श्रीरामकृष्ण तो अपने इस असाधारण शिष्य मे इससे कही अधिक की आशा लगाए हुए थे ! वह प्राय: कहा करते—'साधारण जन दुनिया को राह दिखाने का भार लेते हुए भय खाते है । उदाहरण के लिए, एक मामूली-सा तिनका किसी-न-किसी भाँति केवल स्वय ही तैरता रहता है । यदि एक छोटी-सी चिडिया भी उस पर बैठ जाय, तो वह तुरन्त डूब जाता है । परन्तु नरेन्द्र की बात और है । वह गगा के वक्ष.स्थल पर बाढ के समय तैरते हुए उन विशाल वृक्षो के तनो जैसा है, जो अपने ऊपर न जाने कितने असहाय प्राणियो को लिए रहते है !'

इसीलिए जब कर्मक्षेत्र से भागने की नरेन्द्र की प्रवृत्ति का उन्हे आभास मिला, तो फटकारते हुए उन्होने कहा—'छि, छि, मै तो सोचता था कि तुम उस महान् वटवृक्ष के समान होगे, जिसकी छाँह मे हजारो थके-माँदे प्राणी आ-आकर शरण लेगे ! किन्तु इसके विपरीत तुम एक स्वार्थी की तरह केवल अपनी ही निजी हित-साधना मे लगे रहना चाहते हो ! बेटा, छोडो इन तुच्छ बातो को ! वस्तुत श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को जगत् के कल्याण

के हेतु वैसे ही अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे, जैसा कि उन्ही के सम-सामयिक विरजानन्द ने अपने महान् शिष्य दयानन्द को किया था !

यह दोहराने की आवश्यकता नही कि जिस घडी उनका वह आदेश नरेन्द्रनाथ को मिला, तब से उसके जीवन का एक-एक क्षण अपने गुरु के उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के प्रयास ही मे बीता ! उसने आजीवन वेदान्त के दिव्य सदेश द्वारा भौतिकवाद की मृगमरीचिका मे लुभाए हुए मानव को आत्मस्वरूप का भान कराने का महाव्रत ले लिया। श्रीरामकृष्ण के महासमाधिस्थ होने के कुछ ही दिनो के बाद, अपने कतिपय उत्साही साथियो सहित विधिवत् सन्यास ग्रहण कर उसने काषाय (गेरुआ वस्त्र) धारण कर लिया। इस प्रकार पच्चीस वर्ष की अल्पायु ही मे घूम-घूमकर दुनिया को जगानेवाले एक परिव्राजक का जीवन अपनाकर यह तरुण साधक नरेन्द्र से विवेकानन्द के रूप मे परिणत हो गया !

देश-भ्रमण

अब वस्तुतः उसे कुछ अधिक सीखना न था—केवल ससार ही को पाठ पढाकर अपने जीवन के मुख्य अनुष्ठान को पूरा करने का कार्य उसके लिए शेष रह गया था। उसी की तैयारी मे अपने सन्यास-काल के आरभिक कुछ दिन श्रीरामकृष्ण की स्मृति मे कलकत्ते के समीप बरनगर (वाराहनगर) मे प्रस्थापित 'मठ' और अपने साथी सन्यासी बन्धुओ का सगठन करने मे उसने व्यतीत किए। तदनतर जुलाई १८९० ई० मे देश की एक लम्बी यात्रा पर वह निकल पडा। इस यात्रा के अतर्गत हिमालय से कन्याकुमारी तक क्रमश. सारे भारतवर्ष को ऊपर से नीचे तक उसने नाप डाला। वह कलकत्ते से देवघर, भागलपुर, बनारस, अयोध्या और नैनीताल होते हुए हिमालय पहुँचा। वहाँ डेढ-दो वर्ष पूर्व काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, वृन्दावन और हाथरस की अपनी लघु यात्रा के सिलसिले मे एक बार और वह आ चुका था।

यही अल्मोडे के अपने पडाव मे एक दिन अनायास ही एक वटवृक्ष के नीचे ध्यान करते समय प्रकृति और पुरुष के परस्पर सबध-विषयक अपनी एक महान् आध्यात्मिक गुत्थी का समाधान पाने में वह सफलीभूत हुआ ! तदनन्तर और अधिक एकांत की खोज में वह हिमालय की और भी ऊँची एव दुर्गम श्रेणियो की ओर ऊपर बढा। परन्तु शीघ्र ही अपने एकमात्र साथी के बीमार पड जाने तथा स्वय अपने ऊपर भी ज्वर का प्रहार होने के कारण उसे वापस मैदानो मे उतर आना पडा। वह क्रमशः श्रीनगर (गढवाल), देहरादून, हृषीकेश, हरद्वार, सहारनपुर होते हुए अत मे मेरठ मे आकर रुका, जहा लगभग पाँच महीने तक उसका मुकाम रहा। यहाँ उसके तीन-चार और सन्यासी बन्धु भी उससे आ मिले थे। इस बीच मन ही मन अपने भावी कार्यक्रम का भी ताना-बाना वह बुनता रहा !

'भारतमाता' का साक्षात्कार

तब एक दिन सगी-साथी के उस झमेले मे ऊबकर, एकाकी ही देश के जन-प्रवाह मे कूद बधन-मुक्त पक्षी की भांति स्वच्छन्द विचरण करने के उद्देश्य से, साथियो की उस टोली को वही छोड चुपके से अकेले ही फिर अपनी सफर पर वह चल पडा। वह दिल्ली, राजस्थान, काठियावाड, बम्बई, मैसूर, कोचीन, मलाबार, तिरुवाकुर, मद्रास और रामेश्वर आदि की यात्रा करते हुए १८९२ ई० के अत तक भारतवर्ष के दक्षिणतम छोर पर स्थित कन्या-कुमारी अतरीप पर जा पहुँचा।

अपनी इस सुदीर्घ और अज्ञात यात्रा का बहुत-सारा हिस्सा उसने पैदल ही चलकर तय किया। इस बीच जगलो, पहाडो, घाटियो और नदी-नालो को लाँघते समय कई बार भूख, थकान और निराश्रयता के कारण उसे अपनी जान तक पर खेल जाना पडा ! परन्तु इस सारी कटु तपस्या के बदले मे इस महादेश के भौतिक कलेवर के अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके गौरवपूर्ण अतीत के अमिट पदचिह्नों के जग-मगाते आलेखों की जो झाँकी उसे देखने को मिली, साथ ही उसके वक्षस्थल पर कही प्रासादों के विलास-कक्षो मे प्रमाद से मदमाती-इठलाती, तो कही टूटी जर्जर झोपडियो के बीच गरीबी, गुलामी और तडपन की चक्की मे पिसती-कराहती मानवता का जो आँखो-देखा परिचय पाने का अवसर उसे मिला, उसमे अपना सारा श्रम और कष्ट वह भूल गया !

उसका हृदय अपनी मातृभूमि के उस निकट के ससपर्श मे आकर स्नेह से भर आया। जब कन्याकुमारी के उस दक्षिणी सीमान्तवर्ती भूछोर पर इस महादेश के चरण पखारते हुए महोदधि मे कुछ दूरी तक

तैरकर उसने मुख्य भू-भाग से अलग कटी हुई एक चट्टान पर खडे हो, उत्तर की ओर अपना दीर्घ अचल फैलाए हुए सतप्ता 'भारतमाता' के प्रति अपनी उल्लसित आँखे दौडाई, तो उसकी उस अनिद्य प्राकृतिक रूपराशि के साथ-साथ उसकी वर्त्तमान वेशभूषा की लज्जाजनक आक्रान्तावस्था के विरोधाभास का अनुभव कर एकबारगी ही वह मानो रो-सा पड़ा ! अब कही जाकर उसकी समझ मे ठीक से यह बात आई कि क्यो गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना के घिरौदे मे से बाहर निकलकर एक बृहत्तर अनुष्ठान के हेतु अपना जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए इतना अधिक जोर देकर उसे प्रेरित किया था ! उसे अपने गहन उत्तरदायित्व का अब वास्तविक रूप मे भान हुआ और फिर से एक बार उसके मुँह से वही वाक्य निकल पडे, जो कि अब से दो वर्ष पूर्व एक शिष्य के आगे जी का उबाल न रोक सकने के कारण हठात् एक दिन उसकी वाणी से फूट निकले थे—'भारत को अपनी यह तद्रा छोड़ फिर से सक्रिय बनना ही होगा, उसे पुन. अपनी अध्यात्म-शक्ति द्वारा ससार पर एक बार विजय प्राप्त करना ही होगा !'

अमेरिका मे

और जैसे ही वहाँ से उसके कदम वापस उठे, वैसे ही अपने आप ही उसके मानसपटल पर भावी कार्यक्रम के पूर्व-रूप का मानो एक पूरा नक्शा-सा खिच गया। उसने अभी-अभी अपनी उस यात्रा ही मे कही सुना था कि सयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, के शिकागो नगर मे पहले-पहल ससार के सभी महान् धर्मो की एक बृहत् परिषद् या महासभा होनेवाली है। अतएव अनायास ही उसके मन मे यह विचार उठ खड़ा हुआ कि क्यो न उस महान् विश्व-धर्म-सम्मेलन मे शरीक हो भारत की आवाज बुलन्द की जाय ! उसने सोचा कि इस देश की वर्त्तमान अधोगति का यदि सबसे बड़ा कारण कोई है, तो वह यह है कि पिछले दिनो की गुलामी ने हमारे मन मे आत्मसम्मान और निजी सामर्थ्य के विश्वास की भावना को बिल्कुल ही दबा दिया है। यदि हमे फिर से उठना है, तो इन भावो को जगाना हमारी सबसे पहली आवश्यकता है। पुन हमे अपने नैतिक बल को सुदृढ करना ही होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भला इससे बढकर दूसरा उपाय क्या हो सकता है कि हम अपनी महान् आध्यात्मिक कमाई और धर्म की ऊँचाई का परिचय ससार को देकर फिर से इस देश को जगद्गुरु के आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए हाथ बढाएँ ! यही सोचकर उस अयाचित स्वर्ण-अवसर के रूप मे प्रस्तुत विश्व-धर्म-परिषद् मे शरीक होने के मौके को हाथ से जाने देना उसने उचित न समझा, और फौरन् ही पाडिनेरी होते हुए वह पलटकर मद्रास आया। वहाँ से बम्बई आकर ३१ मई, सन् १८९३ ई०, के दिन मामूली-सी तैयारी के बाद आखिर वह चीन के रास्ते जानेवाले एक जहाज पर सवार हो गया और इसके बाद तो कुछ ही दिनो मे अमेरिका की भूमि पर वह जा खडा हुआ !

विश्व-धर्म-परिषद्

आश्चर्य नही कि शिकागो पहुँचने पर एकदम अपरिचित होने के कारण स्वामीजी को आरम्भ मे अनेक विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हे किसी जानी-पहचानी सस्था की ओर से विधिवत् प्रतिनिधित्व प्राप्त न होने के कारण, शुरू-शुरू मे उस धर्म-परिषद् में प्रविष्ट होने तक की अनुमति न मिली ! उनके पास जो थोड़ा-बहुत खर्च का रुपया था, वह भी सब का सब तब तक समाप्त हो गया। वह एक ऐसे सकट की स्थिति मे पड गए कि उन्हे अपनी सारी दौड-धूप एकदम मिट्टी मे मिलते दिखाई देने लगी। परन्तु अत मे उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व, अगाध पाडित्य और दिव्य आत्मतेज का प्रभाव पडे बिना न रह सका। अयाचित ही बोस्टन की एक अमेरिकन महिला तथा हारवर्ड के सुप्रसिद्ध विश्व-विद्यालय के एक विद्वान् प्रोफेसर ने आगे बढकर उनके लिए हर प्रकार की सुविधा कर देने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस प्रकार सहज ही न केवल उस धर्म-सम्मेलन के लिए प्रवेशपत्र ही वह पा गए, बल्कि भारत की ओर से एक प्रधान प्रवक्ता के रूप मे उसके मच पर से बोलने का भी मनचाहा अवसर उनके हाथ लग गया !

तब ११ सितम्बर, सन् १८९३ ई०, के दिन अपने ढग के उस सर्वप्रथम विश्व-धर्म-महासम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ हुआ और पहले दिन की अपनी एक छोटी-सी वक्तृता ही मे धूम-सी बाँधकर इस गेरुए वस्त्रधारी तेजस्वी युवा संन्यासी ने सारे अमेरिका का ध्यान एकबारगी ही अपनी ओर खीच लिया !

उसने अत्यन्त उदात्त स्वर मे इस देश के विशद धार्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सब धर्मो के शाश्वत सत्य-तत्त्वो की मूलभूत एकता, वेदान्त की महत्ता और धर्म के क्षेत्र मे समन्वय की आवश्यकता पर ऐसा सुदर प्रवचन किया कि दूसरे ही दिन से उसके पास जहाँ से देखो वही मे भाषण, प्रवचन आदि के लिए निमत्रण पर निमत्रण आने लगे ! इस प्रकार अकेले ही हाथों भौतिक सभ्यता के उस पाश्चात्य लौह दुर्ग पर विजय प्राप्त कर, देखते ही देखते उस 'नई दुनिया' मे वेदान्त-धर्म का झडा खड़ा कर देने का अद्भुत कार्य उस तरुण भारतीय सन्यासी ने कर दिखाया। अल्पकाल ही मे उसके आसपास पश्चिम के ऐसे अनेक सच्चे धर्म-जिज्ञासुओ की टोली जुट गई, जिनमे से कई ने तो उसका शिष्यत्व स्वीकार कर विधिवत् गेरुआ तक पहन लिया !

व्याख्यानों की धूम :: 'राजयोग'

१८९३ ई० से १८९६ ई० तक कुल मिलाकर लगभग ढाई वर्ष तक स्वामीजी अमेरिका मे रहे। इस बीच उन्होने स्थान-स्थान मे अपने जोशीले व्याख्यानो, प्रवचनो और उपदेशो द्वारा जोरो के साथ वेदान्त-धर्म का प्रचार करते हुए सारे अमेरिका को भारत की आवाज से गुँजा दिया। उन्होने कुछ समय तक एक व्याख्यान-प्रबधक सस्था के तत्त्वावधान मे घूम-घूमकर बोस्टन, शिकागो, सेट लुई, डेट्रॉइट, वाशिंगटन, न्यूयार्क आदि प्रधान अमेरिकन नगरो मे सार्वजनिक रूप से आयोजित विशाल सभाओ मे भाषण दिए। तदनन्तर स्थायी रूप से टिककर न्यूयार्क शहर मे जिज्ञासु साधको के लिए ज्ञान और राजयोग की एक प्रकार की पाठशाला-सी वह चलाते रहे ! यही उन्होने 'राजयोग' पर अपनी वह ससारप्रसिद्ध पुस्तिका तैयार की थी, जिसे पढकर अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स और विश्ववद्य रूसी महात्मा टालस्टॉय तक मुग्ध हो गए थे !

तब १८९५ ई० के सितबर मास मे कुछ महीनो के लिए स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य से वह वायु-परिवर्तनार्थ पेरिस होते हुए इगलैण्ड पहुँचे। वहाँ भी अल्पकाल ही मे अपने जादूभरे व्यक्तित्व, ओजस्वी भाषण-शैली और उदात्त दार्शनिक विचारो द्वारा उन्होने काफी धाक जमा दी। इस प्रकार योरप और अमेरिका दोनो ही मे निश्चित रूप मे भारत का सिर ऊँचा कर इस तरुण सन्यासी ने इस देश की सास्कृतिक और धार्मिक महानता की ओर पश्चिम की दुनिया का ध्यान आकृष्ट करने का मानो एक द्वार-सा खोल दिया। उसके इन प्रयत्नो मे न केवल पूर्व और पश्चिम के बधुत्व की उस भावना ही को बढावा मिला, जिसकी पताका लेकर साठ वर्ष पूर्व इस देश का अन्य एक महान् धर्मदूत राममोहन-राय पहले-पहल पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ था, बल्कि स्वय भारत के भी मन मे आत्मगौरव के एक सशक्त भाव का उदय होकर परोक्ष रूप से हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने मे भी उससे एक निश्चित सहायता मिली !

'वेदान्त सोसायटी' :: स्वदेश-वापसी

इसके उपरान्त दिसबर, १८९५ ई०, मे वापस अमेरिका लौटकर स्वामीजी ने पुन वहाँ की कई दार्शनिक और आध्यात्मिक विद्वान्-मडलियो के सम्मुख अनेक पाडित्यपूर्ण वक्तृताएँ दी। इन्ही दिनो न्यूयार्क मे 'वेदान्त सोसायटी' के नाम से एक सस्था की भी प्रस्थापना उन्होने की, जिसने आगे चलकर उनके धर्मानुष्ठान का कार्य बढाकर पश्चिम मे भारतीय धर्म के प्रचार मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। तब १८९६ ई० के अप्रैल मास मे उस महाद्वीप मे लगभग ढाई वर्ष बाद विदा ले योरप के रास्ते वह वापस स्वदेश के लिए रवाना हुए। बीच मे वह कुछ काल तक पुन· लदन मे रुके और इगलैण्ड मे बोए गए वेदान्त के बीज को पुनः अपनी अमृत-वाणी से सीचकर विश्वविश्रुत वेदज्ञ महापडित मैक्समूलर एव सुप्रसिद्ध जर्मन वेदान्ती पॉल डायसन जैसे उद्भट विद्वानो की उन्होने मित्रता प्राप्त की। तब इटली के रास्ते लौटकर १५ जनवरी, सन् १८९७ ई०, के दिन अपने तीन अग्रेज भक्तो—जे० जे० गुडविन और सेवियर दम्पति—के साथ वह लका के कोलबो बदरगाह पर उतरे। वही से रामेश्वर, रामनद, मदुरा होते हुए वह मद्रास पहुँचे।

कहने की आवश्यकता नही कि इस समय तक उनका नाम इतना अधिक प्रख्यात हो चुका था और योरप-अमेरिका मे किए गए महत्कार्य के लिए देश के हृदय मे उनके लिए ऐसे गर्व और सम्मान का स्थान बन चुका था कि उनके इस भूमि पर फिर से कदम रखते ही जनता उनके दर्शनार्थ मानो सागर की

तरह उमड़ पडी। सारा भारत उनके जय-जयकार के स्वर से निनादित हो उठा ! कहते हैं, रामेश्वर से मद्रास तक रास्ते भर उनके स्वागत मे लोगों ने जगह-जगह तोरणद्वार सजाए और बदनवार बाँधे ! कही उनकी झलक मात्र पाने के लिए भीड़ रेल की पटरियों पर लेट गई ! कही साधारण जनो के साथ-साथ बडे-बडे राजा-बाबुओ तक ने अपने हाथों उनका रथ खीचकर उनकी चरणधूलि अपने माथे पर लगाई और जीवन कृतार्थ किया ! स्वय मद्रास नगर मे तो लगभग नौ दिन तक सारा कामकाज स्थगित कर दिया गया और केवल उनका स्वागत का उत्सव ही मनाया जाता रहा ! उन्हे सत्रह विजय-द्वारो से सुसज्जित राजपथ पर से एक भव्य जुलूस बाँधकर निकाला गया, और भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओ मे लिखित चौबीस श्रद्धासूचक मानपत्र विविध सस्थाओ की ओर से उन्हे भेट किए गए !

'भारत, उठ ! तेरी प्राणशक्ति कहाँ है ?'

निश्चय ही पिछले हजार वर्षो मे आचार्य शकर के बाद शायद ही किसी सन्यासी के लिए इस देश का हृदय इतने अधिक उबाल के साथ कभी उमड़ा हो, जैसा कि इस महान् राष्ट्रवीर के लिए इस समय उमड पडा था ! जब अपने भावी सग्राम की योजना की रूपरेखा खीचते हुए मद्रास के अपने पहले व्याख्यान ही मे 'मेरे भारत, उठ ! तेरी वह प्राणशक्ति कहा है ?' की गगनभेदी हुँकार के साथ इस महादेश की सोई आत्मा को झकझोरते हुए, एक महान् क्रान्ति की सूचना लिये हुए अपना प्रथम शखनाद उन्होने किया, तो उठती हुई पीढ़ी की आँखे एक अद्भुत नूतन आशा की ज्योति से चमक उठी और फिर से हमे अपनी नसो मे एक नई बिजली का सचार होते मालूम दिया ! हमे उनकी उदात्त वाणी मे अपने सर्वतोमुखी उत्थान के स्वरसप्तक के आदि से अत तक के सभी सदेशवाही सकेत एक साथ ही उद्घोषित होते सुनाई दिए। उन्होने हमारे मन की उपरली सतह को भेदकर मानो सीधे हमारे प्राणो की सबसे भीतरी तह—हमारे मर्मस्थल—को छू दिया।

उन्होंने कहा—"प्रत्येक व्यक्ति की तरह हर राष्ट्र की भी जीवनधारा की अपनी एक विशिष्ट प्राण-डोर सी होती है, जो कि उसकी सारी हलचल के केन्द्र में रहती है······उदाहरण के लिए, किसी राष्ट्र की वह प्राणशक्ति उसके राजनीतिक बल मे रहती है जैसे कि इगलैण्ड की, तो किसी की अपनी कलात्मक साधना ही मे ! ठीक वैसे ही हमारे अपने देश की भी जीवनधारा की एक प्राणवाही शिरा है। वह है हमारी आध्यात्मिकता ! वही हमारे राष्ट्रीय जीवन-सगीत का प्रधान केन्द्रीय स्वर है ! ....वह आध्यात्मिकता ही हमारे प्राणो को सीचनेवाली रक्तधारा है, जो यदि शुद्ध, पवित्र और सशक्त बनी रही तो सब-कुछ हमारे यहाँ ठीक बना रह सकता है ! उसके दुरुस्त हो जाने पर क्या राजनीतिक और क्या सामाजिक सभी प्रकार की हमारी कमियाँ, यहाँ तक कि इस देश पर मँडरा रही यह व्यापक दरिद्रता भी, अपने आप ही मिट जाएगी !"

उनका यह सदेश कोई सूखे तत्त्वज्ञान का पडिताऊ जजाल न था, प्रत्युत इस देश को वर्त्तमान गिरी हुई दशा से ऊँचा उठाकर पुन: अपने पैरो पर खड़ा करने के लिए उद्घोषित एक सच्चा राष्ट्रीय मत्र था ! विवेकानद अन्य सभी बातो से अधिक केवल शक्ति के ही उपासक थे। अत: उसकी ही साधना का दिव्य पाठ वह अपने देशवासियो को भी पढ़ाना चाहते थे। किन्तु उस महाशक्ति का स्रोत वह केवल त्याग, तपस्या और सेवा के मार्ग ही मे देखते थे, भौतिक होड़ाहोड अथवा ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओ को खडा करने मे नही ! इसीलिए पुकार-पुकारकर वह कहते थे कि "भारत की मुक्ति का एकमात्र उपाय है सेवा और त्याग का मार्ग ! उसी मे इस देश का वास्तविक सर्वोपरि राष्ट्रीय आदर्श निहित है। उसी की पगडडी पर उसे सशक्त रूप से एक बार पुन: खडा कर दो और शेष सब-कुछ अपने आप ही ठीक हो जायगा !"

'दरिद्रनारायण' मेरा भगवान् है !

इस सेवा-धर्म के महान् आदर्श के प्रति हमारा ध्यान खीचते हुए उस महापुरुष ने जिस बात के लिए हमें सबसे अधिक फटकारा, वह थी समाज के त्रस्त, पीड़ित, अशिक्षित, भूख की आग मे लगातार तडपते रहनेवाले असख्य 'दरिद्रनारायणो' के प्रति हमारी निरन्तर उपेक्षा और अवहेलना। हमारी इस व्यापक प्रवृत्ति के लिए धिक्कारते हुए उन्होने कहा—"मै कहता हूँ कि हमारा जो सबसे बडा राष्ट्रीय पाप है, वह है इन असख्य कुचले हुए नर-नारियों के प्रति हमारी गर्हित उपेक्षा—

यह हमारे पतन के प्रमुख कारणों में से एक है !" रोष के मारे मानो आग बरसाते हुए उन्होने हमें ललकारा—"तुम ईश्वर-ईश्वर जो ढूंढते हो, तो पहले इन भूखे-नंगे, पीड़ित, जर्जराक्रान्त दरिद्रनारायणो को पूजने के लिए क्यों नही आगे बढ़ते ? क्या ये साक्षात् ईश्वर नही है ?"

उनका हृदय इन 'दरिद्रनारायणो' के लिए ऐसा उबला-सा पड़ता था कि एक बार उन्होने कहा था— "परवा नही, यदि अपने श्रद्धालोक के उस एकमात्र परमेश्वर की पूजा-उपासना के लिए, जो कि ससार भर के त्रस्त, पीड़ित, दरिद्र, पापी और पतित जनो में निवास करता है, मुझे हजार कष्ट भोगते हुए बार-बार इस पृथ्वी पर जन्म लेना पडे । मै सहर्ष यह स्वीकार कर लूँगा, क्योकि यही दरिद्रनारायण मेरा एकमात्र आराध्यदेव है, वही मेरा भगवान् है !"

'सावधान ! एक प्रचंड ज्वार आ रहा है !'

कहना न होगा कि अपने जीवन के बचे-खुचे शेष वर्ष अपने उसी परम आराध्य की वेदी पर ही उन्होने चढा दिए । उन्होने अमेरिका से वापस लौटते ही दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सारे देश को अपने तूफानी दौरो और ओजभरे भाषणो से मानो झकझोर-सा दिया ! उन्होने अपने वेदान्त-धर्म के शखनाद द्वारा जागृति का एक ऐसा मन्त्र हमारे कानो में फूँक दिया कि हमे अपनी भूली हुई शपथे फिर से याद करने मे देर न लगी । उसी का यह सुफल था कि अनतिदूर भविष्य ही मे, क्या धर्म और समाज, क्या साहित्य और सस्कृति, और क्या अर्थ और राजनीति, सभी क्षेत्रो मे हमारे यहाँ उत्थान की एक ऐसी बाढ आ गई, जो कि अब किसी के रोके नही रोकी जा सकती थी ! इस प्रकार केवल एक-दो दशाब्द ही मे उनकी वह महान् भविष्यवाणी सफलीभूत हो गई कि—"सावधान ! एक प्रचड ज्वार उमड़कर आ रहा है.......हमारी लबी रात का अंत हो चुका है..............भारत अपनी लंबी निद्रा त्यागकर जाग उठा है..............अब कभी भी वह इस प्रकार फिर सोने का नही ।"

यद्यपि हमारा यह दुर्भाग्य था कि यह ऋषितुल्य संन्यासी उनतालिस वर्ष की अल्पायु ही में ४ जुलाई, सन् १९०२, के दिन इस संसार से उठ गया, किन्तु इस अल्पावधि ही में वह इस देश को ऐसा अनुप्राणित कर गया, और अपनी ज्वलत वाणी के प्रसाद के रूप में एक ऐसी स्थायी वसीयत छोड गया कि आज ही नही बल्कि युग-युग तक हम उसके प्रकाश मे अपना मार्ग सुस्पष्ट देखते रहेंगे ! मृत्यु से तीन वर्ष पहले स्वामीजी पुनः भारतीय ज्ञान की मशाल लेकर पश्चिम को जगाने के लिए योरप और अमेरिका की एक लबी यात्रा पर गए थे । परन्तु स्वास्थ्य की खराबी के कारण उन्हे शीघ्र ही वापस स्वदेश लौट आना पड़ा । इस बीच श्रीरामकृष्ण के आदर्शानुसार अपने बाद भी आध्यात्मिक उत्थान और जनसेवा का कार्य जारी रखने के लिए अपने साथी-संन्यासियो और शिष्यों का 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के नाम से एक सस्था के रूप मे वह सगठन कर चुके थे । इस सस्था की देशहितकारी साधनाओ द्वारा आज भी उनके द्वारा प्रज्वलित सेवाधर्म की लौ प्रकाशमान बनी हुई है ।

विवेकानन्द की देन

विवेकानन्द का कार्य था हमें नवयुग की प्रेरणा देकर हमारी नसो मे जागरण का नूतन स्वर भरना— हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को फिर से मजबूत बनाकर हमारे सर्वतोमुखी उत्थान की एक विशाल पृष्ठभूमि तैयार करना । इस कार्य मे वह कहाँ तक सफल हुए, इस बात को शब्दो द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता अब नही रह गई है । इसका तो जीता-जागता प्रमाण आज के दिन हर दिशा मे उमडती चली आ रही हमारी नव-चेतना की वह बाढ है, जिसने गाधी और रवीन्द्रनाथ, अरविन्द घोष और राधाकृष्णन्, जवाहर और सुभाष जैसे रत्नो को पैदा कर उनके महाप्रस्थान के बाद के पचास वर्षो के भीतर ही ऐसा दुर्द्धर्ष रूप ग्रहण कर लिया है !

स्वामीजी से जो सबसे अधिक मूल्यवान् और स्थायी वसीयत हमे मिली है, वह है निस्सदेह उनके उन ओजस्वी और अगाध पाडित्यपूर्ण भाषणो और लेखो का बृहत् संग्रह, जो हमारे ही अपने साहित्य की नही प्रत्युत् सारे विश्व-वाङ्मय की एक अनमोल थाती है । ये भाषण और लेख प्राय: सब के सब अग्रेजी ही में है और वे कई एक जिल्दो मे सकलित है । वे धर्म, दर्शन, तत्त्व-ज्ञान और वेदान्तमूलक अध्यात्मवाद की तो एक सारगर्भित विवेचना की खान है ही, साथ ही उनके प्रत्येक पद में इस राष्ट्र के पुनरोदय के लिए

भी एक ऐसा शृंखलाबद्ध प्रेरक सदेश पिरोया हुआ है कि हम उन्हे इस युग के भारत के लिए राष्ट्रीय उत्थान के सबसे उज्ज्वल महापाठो की सज्ञा प्रदान कर सकते है। वे है हमारे इस युग के नवीन उपनिषद्! कौन भारत का सपूत ऐसा होगा, जिसके जीवन-निर्माण मे उन आप्त वचनो के अमृत-बिन्दुओ ने अपने ढग से एक नवीन ओज, एक नई कर्त्तव्य-भावना की लहर न जगाई हो?

जैसा कि इस महापुरुष के महान् चरित्रकार रोम्या रोलॉ ने कहा है, आधुनिक भारत के त्रिशिखर-रूप हमारी तीन सबसे बडी विभूतियाँ—गाधी, रवीन्द्रनाथ और अरविन्द घोष—तक बहुत अश मे इसी तरुण वेदान्ती सन्यासी द्वारा बोए गए बीजो को लेकर विकसित हुई है! तो फिर देश के अन्य नौनिहालो पर भी यदि लगातार उसका प्रभाव पडता रहा हो और आगे भी पडता रहे, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

नई पीढ़ी के नाम संदेश

अत मे अपने नवसस्थापित 'श्रीरामकृष्ण-मठ' के सेवाव्रती तरुण सन्यासी बन्धुओ के नाम अमेरिका से प्रेषित एक सदेश के रूप मे मानो देश की उगती हुई पीढी के समस्त नौजवानो को लक्ष्य करके आघोषित इस राष्ट्र-गुरु के निम्न उल्लेखनीय वाक्यो को उद्धृत कर, उसकी इस छोटी-सी गौरव-प्रशस्ति को हम समाप्त करना चाहते है—

"मेरे बच्चो! तैयार हो जाओ अब अपनी कमर कसकर!... ... तुम्ही हो इस देश की आशा और तुममे भी उसी पर मै अपनी सच्ची उम्मीद लगाए हुए हूँ, जो चाहे कितना ही अधिक नीचे वर्ग का और दीन-हीन क्यो न हो, फिर भी है सच्चा निष्ठावान्! .. ...जाओ, समाज मे जो सबसे अधिक दुःखी और निपीडित है, उनके प्रति हृदय मे सच्ची सहानुभूति और समवेदना का भाव रखते हुए मदद की भीख माँगो, और विश्वास करो वह मदद अवश्य तुम्हे मिलेगी। मै स्वय इसी एक बोझे को हृदय मे लेकर तथा इसी एक भावना को मस्तिष्क मे बसाकर पूरे बारह वर्ष तक लगातार यहाँ से वहाँ भटकता रहा हूँ, और एक घर से दूसरे घर जाकर न जाने कितने तथाकथित धनी और बडे लोगो के द्वार खटखटा चुका हूँ! और आज भी आधी दुनिया को पार करके अपने घायल दिल को ले, उसी मदद के लिए मै आया हूँ इस अपरिचित विदेश (अमेरिका) की भूमि पर भी! . . . .परवा नही यदि सर्दी और भूख के मारे मै यहाँ विनष्ट ही हो जाऊँ! किन्तु नौजवानो, उन दीन-हीन, मूढ और पीडित जनो के लिए अपनी इस समवेदना, अपने इस सघर्ष की यह वसीयत मै तुम्हारे लिए छोडे जा रहा हूँ! . . .जाओ, उनके लिए अपनी बलि चढा दो! अपने सारे जीवन को उनकी सेवा की वेदी पर उत्सर्ग करने का व्रत ले लो! आगे बढो—उन तीस करोड अभागे नर-नारियो के लिए, जो कि प्रति दिन लगातार नीचे-ही-नीचे खिसकते चले जा रहे है! . . . . . . कूद पडो इस आग मे, मेरे बच्चो! . . . .आओ, दिन-रात हममे से प्रत्येक जन भारत के उन लाखो-करोडो कुचले हुए शोषित जनो के हित के लिए प्रभु से प्रार्थना करे, जो कि मठाधीशो-पुरोहितो के अत्याचार, धनियो और शक्तिवानो के निरतर जुल्म तथा गरीबी द्वारा लगातार दबाए कुचले जा रहे है!

"मै कोई तत्ववेत्ता नही, न दार्शनिक ही हूँ, और न सत ही हूँ। मै तो एक गरीब हूँ और गरीबो का ही अनन्य भक्त हूँ! . . . . . . आज के दिन कौन ऐसा है, जो भारतवर्ष के उन बीस करोड अकिचन नर-नारियो के लिए अपने दिल मे सच्चा दर्द रखता हो, जो कि सदा के लिए गरीबी और अज्ञान की दशा मे डूबे हुए है? कहाँ है उनके उद्धार का रास्ता? . . . . कौन उन्हे प्रकाश लाकर देगा? इन्ही दरिद्रनारायणो को अपना परमेश्वर बनाओ! .... मै तो सच्चा 'महात्मा' उसे ही कहूँगा, जिसका कि हृदय गरीब के लिए बिलखता हो।...........जब तक कि इस देश के लाखो मनुष्य भूख और अज्ञान की दशा मे ही जीवन-यापन कर रहे हो, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही करार देता हूँ, जो कि इनकी ही कौडी के बल पर शिक्षित और समृद्ध बनकर उनके प्रति जरा भी ध्यान न दे रहा हो! ...."

महान् युग-प्रणेता

कितने उदात्त वाक्य है ये! और आज भी हमारे लिए उनमे कितना जगमगाता हुआ कर्म-सदेश भरा पडा है! यह थे स्वामी विवेकानन्द—इस युग के हमारे सबसे महान् शिक्षागुरु, अर्वाचीन और प्राचीन को सबद्ध करनेवाले हमारे सबसे महान् सेतु, और जन-साधारण को ऊँचा उठानेवाले एक सच्चे राष्ट्र-निर्माता!

रामतीर्थ

धर्म और दर्शन की जननी भारत-भूमि मानवता का मुख उजागर करनेवाले पहुँचे हुए महात्माओ से कभी भी खाली नही रही है। वैदिक ऋषियो से लेकर 'सेवाग्राम के सत' तक की अविच्छिन्न परपरा इसका जीता-जागता प्रमाण है। यही नही, किसी-किसी युग मे तो एक ही आवाज लिए हुए एक साथ ही कई क्रान्तदर्शी महापुरुष इस भूमि पर उतरे, जैसे उपनिषद्काल मे याज्ञवल्क्य आदि विविध ब्रह्मर्षि और मध्य युग मे कबीर, नानक आदि सत। हमारा आज का युग भी ऐसे ही अनेक ऋषितुल्य लोकनायको के पदचिह्नो द्वारा मुखरित और प्रकाशित हुआ है। हम देख चुके है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण, ऋषि दयानन्द और देवन्द्र-केशव जैसे महान् शिक्षा-गुरु एक साथ ही प्रकट हुए हुए थे। उनके बाद जब स्वामी विवेकानन्द ने हमारी धर्म-पतवार सँभाली, तो वह भी अकेले नही आए। उनके साथ ही अवतीर्ण हुआ आधुनिक भारत का एक और असाधारण लोकशिक्षक! इस महात्मा ने अपने वचनामृत से भी अधिक त्याग और तपस्या के अपने लोकोत्तर जीवन द्वारा हमे आत्मज्ञान का महापाठ पढाया। साथ ही इस देश की अमर वाणी को ससार भर मे गुँजा देने मे भी उसने महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह महापुरुष था स्वामी राम या रामतीर्थ, जो आचार्य शकर की भाँति आया तो था केवल तैंतीस वर्ष ही की अल्पायु लेकर, किन्तु इतने ही समय मे हमारे अतस्तल पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप वह जमा गया कि अर्वाचीन भारत का कोई भी सर्वाङ्गीण चित्र उसके उल्लेख के बिना सपूर्ण नही माना जा सकता।
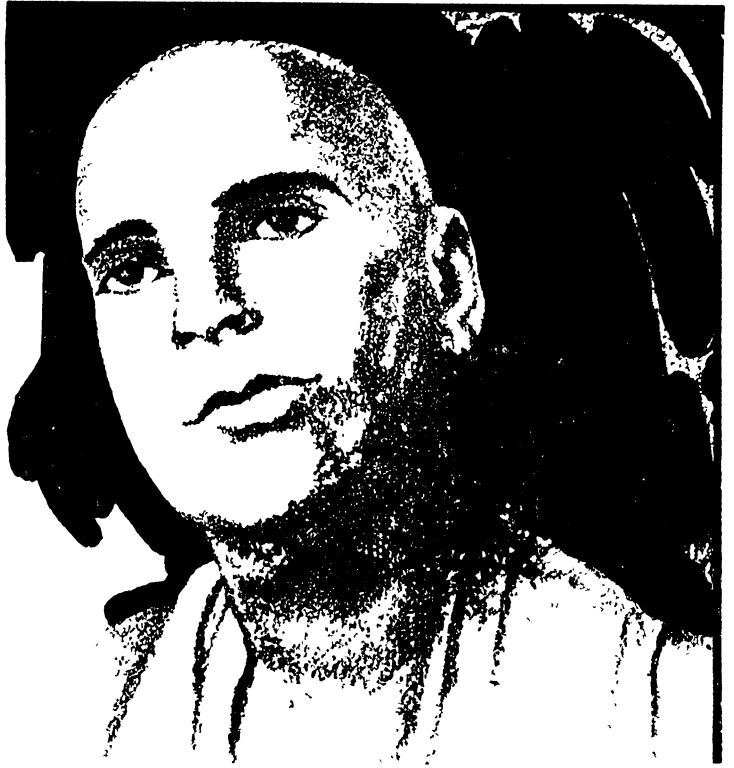
आरंभ ही से धर्म के प्रति रुझान

स्वामी रामतीर्थ, जिनका सन्यासकाल से पहले का नाम था गोस्वामी तीर्थराम, उस पुण्यस्थली पंजाब की उपज थे, जिसने कभी इस देश की सस्कृति का सर्वप्रथम उद्घाटन कर वेदो की ऋचाओ का आरभिक मगलगान किया था और जहाँ कालान्तर मे नानक और गोविन्दसिह जैसे महापुरुष प्रकट हुए थे। उनका जन्म २२ अक्टोबर, सन् १८७३ ई०, के दिन जिला गुजरानवाला के मुरलीवाला नामक गाँव मे एक अत्यन्त गरीब स्थिति के ब्राह्मण पुजारी के घर हुआ

था, जिसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन अपनी पुरोहित-वृति ही थी ! कहावत है कि 'पूत के पग पालने में ही दिखाई दे जाते है !' इसका प्रमाण हमारे चरितनायक ने भी अपने बचपन में दिया ! कहते है, जब तीर्थराम साल डेढ साल का बालक था, तभी से उसके बर्त्ताव में धर्म के प्रति ऐसा प्रगाढ़ झुकाव दिखाई देने लगा था कि मदिरो की आरती की शखध्वनि सुनते ही वह रोते-रोते चुप हो जाता था ! तीन वर्ष की अवस्था होते-होते तो धर्म-सबधी उसका यह नैसर्गिक अनुराग इतना अधिक बढ़ गया था कि एक बार जब पिता उसे किसी पडित की कथा सुनाने के लिए अपने साथ ले गए, तो दूसरे दिन से उसने फिर वही जाने के लिए जोरो से मचलना शुरू किया। फिर कथा का समय होते ही रो-रोकर वह आकाश-पाताल एक कर देता और तब तक शान्त नही होता था, जब तक पिता उसे कथा-स्थान तक न लिवा ले जाते थे ! उसकी बुद्धि भी आरभ ही से असाधारण रूप से परिपक्व और तीव्र थी ! तभी तो पढने के लिए जब वह गाँव के मौलवी के पास बिठाया गया, तो तीन ही वर्ष की अवधि मे उसने पाँच वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा कर लिया। कहते है, उस छोटी-सी अवस्था ही मे शेखसादी की फारसी कृतियो तथा अनेक उर्दू शायरो की कविताओ के लबे-लबे उद्धरण कठस्थ करके धड़ल्ले के साथ वह उन्हे ज्यो-के-त्यो दोहरा देता था।

लाहौर का शिक्षा-काल

तब चौदह वर्ष की अल्पायु ही मे गुजरानवाला-हाईस्कूल से प्रथम श्रेणी मे मैट्रिक की परीक्षा पास कर, पिता की असम्मति होने पर भी लाहौर जाकर विशेष अध्ययन के लिए उसने वहाँ के मिशन-कालेज मे प्रवेश किया। उसका यह शिक्षा-काल घोर गरीबी के कारण भयकर कष्ट और तगी के साथ बीता ! कहते है, वह शहर की वाछोवाली नामक एक अत्यन्त गदी गली की एक रुपए मासिक किराए की एक तग कोठरी मे रहता ! केवल तीन पैसे रोज की भठियारे की रोटियो पर बसर करता ! और इस सारी मितव्ययिता के बाद भी कॉलेज की अपनी फीस के माहवारी साढे चार रुपए की रकम भी बड़ी मुश्किल से बचा पाता था ! उसे घर से एक कौड़ी भी मदद के रूप में नही मिलती थी। उसका इन दिनो का सारा खर्च केवल ट्यूशन अथवा स्कॉलरशिप की उस छोटी-सी रकम के बल पर ही चलता था, जो गुजरानवाला की म्युनिसिपल कमेटी से उसे मिलती थी। उल्टे उसमे से भी कभी-कभी कुछ रुपए बचाकर वह घर भेज दिया करता था ! इस पर एक और दुर्भाग्य की बात यह थी कि पिता ने दस वर्ष की छोटी-सी उम्र ही में उसका विवाह भी कर दिया था। फलतः अपने अलावा अपनी निरीहा बालपत्नी की भी बहुत-कुछ चिन्ता उसे स्वभावत: खाए डालती थी ! किन्तु बाधाओं के इस कठोर चक्रव्यूह में बुरी तरह फँसकर भी राम ने दृढतापूर्वक अपने अध्ययन का क्रम लगातार जारी रक्खा। उसने १८९५ ई० में अपने प्रिय विषय गणित मे—जिस पर कि उसका असाधारण प्रभुत्व था—एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली। तब काफी समय तक बेकारी के भूत से लड़ने और दर-दर की ठोकरे खाने के उपरान्त, पहले तो स्यालकोट के मिशन-हाईस्कूल मे एक साधारण अध्यापक की और तदनन्तर लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज मे गणित के प्रोफेसर की जगह उसे मिल गई, जिससे कि उसके जीवन-निर्वाह का प्रश्न बहुत-कुछ हल हो गया।

धन्ना भगत

किन्तु यह तो केवल उसके सासारिक और उपरले जीवन की ही पृष्ठभूमि थी। वस्तुत. उसके अतस्तल मे तो पिछले कई वर्षो से किसी छिपे हुए सोते की तरह दिन पर दिन उमड़ता आ रहा था लगातार दूसरा ही एक प्रवाह ! उस प्रवाह ने समय पाकर उसकी जीवन-दिशा की धुरी को कही से कही की ओर मोड दिया ! यह था बचपन ही से उसके हृदय-तल में नैसर्गिक रूप मे उच्छ्वसित आध्यात्मिकता का वह प्रबल स्रोत, जिसकी एक सुस्पष्ट झलक इन्ही दिनों धन्ना भगत नामक अपने एक हितैषी को लिखे गए उसके भावुक पत्रो मे देखने को मिलती है। ये पत्र उसके आरभिक जीवन की आत्मकहानी पर प्रकाश डालने मे बड़े मूल्यवान् साबित हुए है। इस व्यक्ति को तीर्थराम द्वारा समय-समय पर लिखे गए पत्रों की कुल सख्या ग्यारह सौ के लगभग है ! उनमे हमारे चरितनायक के आरभिक दिनो की मामूली से मामूली बातो से लेकर उसके अतराल में उमड़नेवाले धार्मिक भावावेग के उफान तक सभी कुछ सामग्री एक रोजनामचे की तरह सकलित है ! यह धन्ना भगत या भक्त धन्नाराम था तो ठेठ का

प्रमुख कार्यकर्त्ता होने के नाते राम को उस विद्वान् संन्यासी के निकट ससर्ग मे आने का प्रचुर अवसर मिला ! स्वामी माधवतीर्थ एक सच्चे रत्नपारखी थे । अतः इस प्रतिभासपन्न युवक प्रोफेसर की प्रगाढ आध्यात्मिकता और उसकी भक्तिमूलक साधन-वृत्ति की तह मे छिपी हुई अद्वितीय महानता के बीजो का परिचय पाते उन्हे देर न लगी । यद्यपि उन्हे अधिक अवकाश प्राप्त न था, फिर भी जब तक वह लाहौर मे टिके रहे, उन्होने नित्यप्रति कुछ समय निकालकर इस तरुण जिज्ञासु को उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र आदि का पाठ पढाकर वेदान्त की शिक्षा देने मे अपनी ओर से कोई कोर-कसर न उठा रक्खी ! तब तो फिर पूछना ही क्या था ! उनका वह वेदान्त का पाठ पूरा होते ही देखते ही देखते हमारे चरितनायक की 'कृष्ण, कृष्ण' की वह पुकार आत्मदर्शन की एक प्रबल ज्ञान-पिपासा मे परिणत हो गई ! उसका वह 'मनमोहन कन्हैया', अब सारे विश्व के रोम-रोम मे व्याप्त एक ही निखिल निरजन परब्रह्म का रूप धारण कर, साकार से निर्गुण एव निराकार हो गया ! अब बाहर की ओर रमने के बजाय वह स्वतः उसके ही अपने अत-राल में बस गया और इस तरह उसके मन मे रमकर वह बन गया उसका अपना आत्माराम ही !

विवेकानन्द से भेंट

इसी बीच उत्तरी भारत के अपने दौरे के क्रम मे सौभाग्यवश स्वामी विवेकानन्द का भी लाहौर मे आना हुआ । उनके निकट सस्पर्श मे आकर और भी अधिक प्रेरणा ग्रहण करने का सुअवसर राम को मिला ! यद्यपि इस बात का कोई लेखा आज हमारे पास नही है कि उस महान् सन्यासी के साथ अपनी भेट-मुलाकातो के सिलसिले में हमारे चरितनायक ने क्या-क्या अनुभूतियाँ प्राप्त की, फिर भी इसमे सदेह नही कि अपने युग के उस सबसे तेजस्वी भारतीय लोकशिक्षक की ओजस्वी वाणी और दिव्य साधना का इस उठते हुए साधक के मन पर कुछ कम प्रभाव न पडा होगा । बल्कि अनुमान तो यही किया जाता है कि उसी के व्यक्तित्व और जीवन से प्रेरित होकर तीर्थराम के मन मे शीघ्र ही सन्यास ग्रहण कर आत्मोपलब्धि के मार्ग पर बढने और वेदान्त के महापाठ का एक जीता-जागता उदाहरण ससार के सामने प्रस्तुत करने की प्रबल हूक जगी होगी ! क्योकि इसके शीघ्र ही बाद ज्योही कॉलेज की गर्मी की छुट्टियाँ आई, उसने मथुरा-वृन्दावन की दौड लगाने के बजाय इस बार सीधे हिमालय ही की ओर अपने पाँव बढाए । वह हरद्वार से हृषीकेश पहुँचा और वहाँ अपने पास की कौड़ी-कौडी तक उसने साधुओ मे वितरण कर दी । तब पागलो की तरह नगे बदन ही वह पडोस के तपोवन नामक स्थान की ओर चल दिया । वहाँ आत्मदर्शन करने का दृढ सकल्प करके गगा के किनारे एक जगह वह आसन जमाकर बैठ गया । मन ही मन यह भीष्म प्रतिज्ञा उसने कर ली कि या तो इष्ट-साक्षात्कार करके ही उठूँगा या फिर अपना जीवन ही यहाँ पर समाप्त कर दूँगा ! और अत में जब शीघ्र ही अपनी इच्छा-पूर्ति होते उसे न दिखाई पड़ी, तो अब और अधिक जीना व्यर्थ समझ वह सचमुच ही प्राणो का मोह छोड उस बाढ-चढ़ी गगा मे कूद पड़ा ! किन्तु भगवती भागीरथी को अपने इस प्रतिभावान् पुत्र को वस्तुत इतने शीघ्र अभी अपनी गोदी मे लेना स्वीकार न था । अत कुछ देर तक तो उसने उसके शरीर के साथ खिलवाड-सा किया और तब फूल की तरह उछालकर उसे पुनः एक तटवर्ती चट्टान पर फेक दिया !

अद्वैतानुभूति

कहते है कि जैसे ही मा गगा की उस प्यार-भरे चपत का प्रहार उसने पाया, वैसे ही इस तरुण साधक के ज्ञानचक्षु एकबारगी ही खुल पड़े और उसी चट्टान पर लेटे-लेटे अप्रयास ही उसे वह ईप्सित इष्ट-सिद्धि का वरदान प्राप्त हो गया, जिसके लिए कुछ ही मिनट पहले वह अपने प्राण तक दे देने को उतारू हो गया था । इस प्रकार उसने वह महान् अद्वैतानुभूति सिद्ध कर ली, जो केवल निर्विकल्प समाधि की तुरीयावस्था पर पहुँचे हुए इने-गिने परमहस महापुरुषो ही को प्राप्त हो पाती है । अब तो सब कही स्वय अपनी ही आत्मा का प्रकाश चारो ओर छाया हुआ उसे दिखाई देने लगा ! उसके लिए अब वस्तुतः बाहर और भीतर, एक और अनेक, भूत-भविष्य और वर्त्तमान एव भक्त और भगवान् तक का भेद सर्वथा मिट गया ! जैसा कि स्वय उसी ने बाद मे लिखा था, पत्ता-पत्ता अब मानो यही वाक्य पुकार-पुकारकर उसका

स्वागत करते दिखाई देने लगा था कि 'तत्वमसि, तत्वमसि', अर्थात् तू ही वह है, तू ही वह है !

पुनः हिमालय की ओर

उत्तराखण्ड की इस यात्रा से लौटते ही राम के सासारिक बधन और भी ढीले पड गए । अब अपना अधिकांश समय वेदान्त-चर्चा तथा साधना ही मे बिताने के उद्देश्य से उसने मिशन कॉलेज की अपनी उस छः घण्टे रोजाना की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और स्थानीय गवर्नमेण्ट ओरिएटल कॉलेज मे केवल दो घटे रोज पढाकर ही अपने परिवार का निर्वाह करना शुरू किया । तदुपरान्त पुनः गर्मी का मौसम आते ही वह हिमालय जा पहुँचा । इस बार काश्मीर के रास्ते लगभग तेरह हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित अमरनाथ की सुप्रसिद्ध पवित्र गुफा तक का एक चक्कर वह काट आया। इस यात्रा मे उसके साथ असबाब के नाम पर कुल सामान क्या था ? केवल उसका वह अँगोछानुमा उपवस्त्र ही, जिसमे का कुछ भाग तो वह अपनी कमर मे लपेट लेता था और शेष से आवश्यकता पड़ने पर ऊपरी बदन ढाँप लेता था !

इसी प्रकार कुछ महीने बाद सागर-दर्शन की उत्कठा से प्रेरित होकर, साथ मे किसी तरह का सामान या एक पैसा भी लिए बिना, वह लाहौर से कराँची तक की भी एक दौड़ लगा आया । इस यात्रा मे भी उसे किसी तरह की असुविधा नही होने पाई, क्योकि हर जगह अयाचित ही कोई न कोई व्यक्ति उसे मदद पहुँचाता रहा !

गृह-संसार से विदाई :: महाभिनिष्क्रमण

इसी बीच सन् १९०० ई० के जनवरी मास से 'अलिफ' के नाम से उसने लाहौर से उर्दू मे एक बिल्कुल निराला मासिक पत्र निकालना शुरू किया था । उसमे बडे मस्ताने ढग से अपने हृदय में तरगित वेदान्त का उबाल निकालते हुए दुनिया को उसका पाठ पढाने की ओर पहले-पहल वह अग्रसर हुआ था। किन्तु सच तो यह था कि उसके अतस्तल का ज्वार इन सीमित प्रणालियो ही में समाकर थम जानेवाला कोई मामूली उफान न था । वह तो ऐसा एक महाओघ था, जो सभी प्रकार के बधनो से मुक्त केवल सपूर्ण निवृत्ति की समतल भूमिका पर पहुँचकर ही स्थिर हो सकता था ! अतएव शीघ्र ही वह समय भी आया, जब राम को अपनी सासारिकता की वे रही-सही श्रखलाएँ भी बेतरह अखरने लगी । उसके लिए गृहस्थाश्रम के उस घिरौदे मे रह पाना अब एकदम असभव-सा हो गया । आखिर एक दिन उसने अपने उन बचे हुए सासारिक बधनो को भी समूल काटकर, उस गृह-ससार से अतिम विदा ले, विशुद्ध निवृत्ति ही के पथ पर अग्रसर होने का महान् निश्चय कर लिया । इस प्रकार एक ही झटके मे कॉलिज की अपनी वह प्रोफेसरी, अपनी वह प्रिय गणित, रावी नदी का वह तट, वह घर-बार, और स्त्री-पुत्र-स्वजन-परिवार की वह स्नेह-सिचित दुनिया ठुकराकर सदा के लिए उसने अपने आपको विजन का वासी बना लिया !

कहते है कि उसके उस महान् ससार-त्याग और महाभिनिष्क्रमण का दृश्य जिन्होने उस दिन अपनी आँखो से देखा, वे लाख हृदय थामने का प्रयास करने पर भी विदाई के उस करुणा-स्रोत के प्रवाह मे बहने से अपने आपको न रोक सके ! उसको बिछुड़ते देखकर न केवल उसका अपना परिवार ही, बल्कि लाहौर का सारा हिन्दू समाज या सच पूछो तो सारा हिन्दू पजाब ही मानो रो पडा था !

'तीर्थराम' से 'रामतीर्थ'

घर छोड़कर वह पुन. अपने प्रिय हिमालय ही की ओर अग्रसर हुआ । उधर उसका साथ छोडने का एकाएक साहस न कर पाने के कारण, तीन-चार शिष्यो के साथ मोहवश उसकी धर्मपत्नी भी अपने दो बच्चो को लेकर उसके पीछे हो ली ! उसने भी उन्हे साथ आने से रोका नही । पर हरद्वार से देवप्रयाग होते हुए जब उस छोटी-सी यात्रा-मडली ने टेहरी पहुँचकर अपना पहला लबा पडाव डाला, तो एक दिन रात को सबको वही छोड़ वह चुपके से अकेला ही वहाँ से खिसक दिया । नगे सिर और नगे ही पैर एकाकी चलकर वह वहाँ से पचास मील दूर उत्तरकाशी जा पहुँचा और इस महाभिनिष्क्रमण के छः महीने के बाद ही, १९०१ ई० के आरभ मे, गगा मैया के पुनीत तट पर एक दिन विधिवत् जनेऊ त्यागकर तथा सिर मुँडवाकर अत मे उसने सन्यासियों का काषाय धारण कर लिया । इस प्रकार अट्ठाइस वर्ष की उस अल्पायु ही मे गोस्वामी तीर्थराम से सन्यासी 'रामतीर्थ' के रूप मे परिणत होकर सदा के लिए

वह ससार से किनारा कस गया और बन गया निवृत्ति-मूलक कल्याण-मार्ग का एक महापथिक !

इस महान् त्याग के बाद स्वामीजी कई दिनो तक लगातार हिमालय ही मे घूमते-फिरते रहे। उन्होने इस बीच यमुनोत्री, बदरपूँछ (सुमेरु), गगोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ आदि अनेक बर्फीले और ऊँचे स्थानो की यात्रा की। इस घुमक्कडी जीवन द्वारा आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ वह अपनी जन्म-जात प्रकृति-सौन्दर्योपासना की भी भूख मिटाते रहे। इन यात्राओं के क्रम मे जो-जो दृश्य उन्होने देखे और अपनी मस्ती के नशे मे जो-जो अनुभूतियाँ उन्हे हुई, उनका ऐसा हृदयस्पर्शी, काव्यमय और दार्शनिक भावो मे पगा हुआ विवरण उन्होने अपनी अद्वितीय लेखनी के प्रसाद के रूप में हमारे लिए अपने सस्मरणो मे छोड़ा है कि उसे पढकर एक बार शुष्क अरसिक हृदय मे भी कवियों की-सी भावनाओ की तरगे उठने लगती है।

इसके बाद पुन मैदानों मे उतरकर क्रमशः मथुरा, अयोध्या, लखनऊ. आदि स्थानो मे वेदान्त पर कई महत्वपूर्ण भाषण उन्होने दिए। इस अभियान मे अपने सतेज व्यक्तित्व, अल्हड़ चरित्र तथा अलौकिक ज्ञान-चमत्कार द्वारा हजारो का मन हरकर वेदान्त-धर्म के प्रति एक गहरी दिलचस्पी उन्होने जनता मे पैदा कर दी। जब गर्मियो मे वह पुनः हिमालय पहुँचे, तो उनकी ख्याति से आकर्षित होकर टेहरी राज्य के तत्कालीन नरेश कीर्तिशाह ने उनसे भेट करके आग्रह-पूर्वक उन्हे अपना मेहमान बना लिया।

जापान में :: 'पूरन' से भेंट

कुछ दिन टेहरी में रहने के बाद वह कीर्तिशाह के साथ राज्य की ग्रीष्म-कालीन राजधानी प्रतापनगर को चले गए। यही एकाएक अखबारो मे यह सूचना पाकर कि शिकागो की पिछली विश्व-धर्म-परिषद् की भाँति शीघ्र ही एक और विश्व-धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन जापान में होने जा रहा है, उस धर्मप्रेमी राजा ने राम से उसमे सम्मिलित होकर ससार को पुनः भारत का सदेश सुनाने का आग्रह किया। उन्होने उनकी यात्रा-सम्बन्धी व्यवस्था का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। भला, जन्मजात विश्व-धर्मी राम को इसमें क्योकर इन्कार हो सकता था? वह तत्काल ही जाने को राजी हो गए, और २८ अगस्त, सन् १९०२ ई०, के दिन अपने प्रिय शिष्य नारायण के साथ कलकत्ते से जहाज पर सवार होकर हांगकांग होते हुए कुछ ही दिनो मे जापान जा पहुँचे!

इस प्रकार विवेकानन्द की प्रख्यात धर्मप्रचारयात्रा के ठीक साढे नौ वर्ष बाद पुनः भारत का यह दूसरा तरुण सन्यासी एक धर्मदूत के रूप मे वेदान्त की पताका लेकर समुद्र-पार के देशान्तर के आँगन मे जा खड़ा हुआ! किन्तु जब जापान पहुँचने पर स्वामी राम को यह मालूम हुआ कि उक्त विश्व-धर्म-परिषद् की खबर केवल अखबारो द्वारा उडाई गई एक बेसिर-पैर की गप्प मात्र थी, तो वह खूब हँसे! उन्होने कहा—'वाह, वाह, यह भी खूब रहा! प्रकृति ने राम को अपने उस हिमालय के एकान्त से वापस दुनिया के आँगन मे खीच ले आने के लिए यह खूब मजे की चाल चली!......खैर, राम तो स्वतः ही एक जीता-जागता विश्व-धर्म-सम्मेलन-सा है? अगर टोकियो उसका अधिवेशन न करे, तो न सही, राम तो अपना सम्मेलन करेगा ही!' और अपने कुछ सप्ताहो के उस आवासकाल ही में उन्होने वहाँ अपनी फडकती वक्तृताओ द्वारा ऐसी धूम बाँध दी कि जापान का सारा विद्वद्समाज चकित रह गया! यही अचानक एक दिन अपने उस भावी परम भक्त और शिष्य 'पूरन' (या पूर्णसिह) से उनकी प्रथम भेट हुई, जिसने कि अपने आपको पूर्णतया उनके चरणो मे छोड़कर अत में उनके नाम पर गेरुआ तक धारण कर लिया और आगे चलकर उनके जीवन के सबध मे एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखकर आधुनिक भारतीय वाङ्मय मे अपना नाम सदा के लिए अमर कर लिया!

अमेरिका में :: व्याख्यानों की धूम

इसके उपरान्त अपने साथी नारायण को वही छोडकर राम अब और भी आगे की ओर बढे। वह जहाज मे पैसिफिक महासागर को पार कर शीघ्र ही सैन-फ्रासिस्को बन्दरगाह पर अमेरिका के तट पर जा उतरे। वहाँ विवेकानन्द के जादू का असर तो पहले से विद्यमान था ही। अतएव जब यह दूसरा तेजस्वी भारतीय संन्यासी भी पुनः वेदान्त की मशाल लिए हुए सामने आया, तो अमेरिकन जनता मे फिर से एक धूम-सी मच गई। सब कही 'मूर्तिमान् ईसा मसीह' के नाम मे अति श्रद्धापूर्वक उसकी आरती उतारी जाने लगी। उसके उस अल्हड़ बर्त्ताव और अलौकिक

मस्तानेपन ने तो स्वामी विवेकानन्द से भी अधिक लोकप्रिय उसे बना दिया ! इस प्रकार लगभग दो वर्ष तक स्वामी राम अमेरिका के मेहमान रहे। इस बीच स्थान-स्थान मे पचीसो ओजपूर्ण भाषण देकर तथा अनेक शिष्य बनाकर विवेकानन्द द्वारा आरम्भ किए गए वेदान्त-प्रचार के काम को आगे बढ़ाने मे उन्होने जबर्दस्त योग दिया !

अपनी इस महान् धर्मयात्रा से लौटकर जब वह वापस स्वदेश आए, तो विवेकानन्द की तरह उनका भी देशवासियो द्वारा भव्य स्वागत किया गया। उन्होने भी स्थान-स्थान मे अपने व्याख्यानो की धूम बाँध दी। विवेकानन्द की तरह उनकी अमृत-वाणी मे भी इस देश को अपनी आध्यात्मिकता के पोषण के साथ-साथ अपने सर्वाङ्गीण पुनरुत्थान का एक सशक्त जन-सदेश मिला। और उनके महान् त्याग के उज्ज्वल आदर्श ने तो उनकी वाणी से भी कही अधिक गहराई के साथ पैठकर, इस युग की उठती हुई पीढी के मस्तिष्क और हृदय पर अपनी अमिट छाप अकित कर दी !

वशिष्ठ-आश्रम :: महासमाधि

किन्तु विवेकानन्द की अपेक्षा रामतीर्थ एक आन्दोलनकर्त्ता जननायक अथवा धर्मप्रचारक से कही अधिक वस्तुतः एक एकान्तवासी साधक थे। अतएव अमेरिका से वापस आते ही एक दिन पुनः अपने प्रिय हिमालय की ओट मे वह खिसक गए। वह हृषीकेश से तीस मील ऊपर 'व्यास-आश्रम' नामक एक बीहड़ दुर्गम स्थान मे चले गए ! वहाँ अकेले ही कुछ समय तक निरुक्त और सस्कृत व्याकरण के साथ वेदों का गहन अध्ययन वह करते रहे। तदनतर और भी अधिक एकान्त की चाह से वह टेहरी से पचास मील दूर बारह-तेरह हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित 'वशिष्ठ-आश्रम' नामक अन्य एक अगम्य किन्तु रमणीक पहाड़ी स्थान की प्राकृतिक कदराओं में जा बसे। अत में साधना के चरम शिखर पर पहुँचने पर, जब उनके लिए कुछ और अधिक जानने या करने को अब बाकी न रहा, तब एक प्रकार से पूर्ण निवृत्त होकर वह मौन हो गए ! किन्तु कुछ ही समय बाद स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण, अपने भक्तो के आग्रह से उन्हें उस एकान्त स्थान से नीचे उतरकर वापस टेहरी चले आना पड़ा। वही १७ अक्टूबर, सन् १९०६, के दिन ठीक दोपहर को बारह वजे, जब कि उनकी आयु के ठीक तैंतीस वर्ष पूरे होने जा रहे थे, समीप ही बहनेवाली गगा की पुनीत धारा में स्नान करते समय, देखते ही देखते एकाएक जलमग्न होकर अत्यन्त रहस्य-पूर्ण ढग से वह सदा के लिए महासमाधिस्थ हो गए !

विश्व-गंगा का तैराक

इस प्रकार आधुनिक भारत के एक ऐसे अद्वितीय व्यक्तित्व की इहलौकिक जीवन-लीला का अत हुआ, जिसकी समता का कविहृदय और मस्ताना साधक श्रीरामकृष्ण परमहस के बाद पिछले सौ वर्षों में इस देश मे दूसरा न हुआ ! स्वामी राम थे यथार्थ मे विशुद्ध अध्यात्म-क्षेत्र के ही एक पहुँचे हुए प्राणी ! वह इस पार्थिव सासारिक धरातल के जीव कदापि न थे। वह थे शत-प्रति-शत केवल उस ज्योतिष्मान् सत्य-शिव-सुन्दर रूपी परम शाश्वत वस्तु ही के एक महान् उद्गाता, जिसके कि विषय मे उपनिषदो मे कहा गया है कि 'वही तू है, वही तू है !' वह एक पहुँचे हुए वेदान्ती, महान् ईश्वर-भक्त और साधना की मस्ती मे जीवन भर कुहुकते रहनेवाले एक अनोखे अलौकिक तपस्वी थे। यदि प्रकृति ने उन्हे एक असाधारण काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न बनाया था, तो वह केवल इसीलिए कि अपनी उस काव्य-वीणा की झकार द्वारा वह और भी अधिक सवेदनापूर्वक अपने अतस्तल मे तरगित आध्यात्मिकता की रागिनी का स्वर निकाल सके !

वह थे सच्चे अर्थो मे आत्मा के कवि—इस विश्व के अतराल में घूर्णित अनहद नादतत्त्व के एक दुर्लभ कलावन्त गीतकार। इसीसे तो हमने कहा कि वह हमारी इस भौगोलिक सीमाओ से बँधी, तुच्छ स्वार्थो से लदी दुनिया के प्राणी न थे। वह तो उस मुक्त गगन के वासी थे, जहाँ किसी भी प्रकार के भेदभाव, सघर्ष और अभाव के लिए गुजाइश ही नही है ! वह अपनी आत्मा को विश्वात्मा के साथ पूर्णतया मिलाकर मानो अपना पृथक् अस्तित्व खो चुके थे। उस एकीकरण के बाद से वह उस समदर्शी की आँखो से ही समस्त चराचर सृष्टि को देखने लगे थे ! तो फिर हमारी सीमित पकड़ मे वह भला क्योंकर कभी आ सकते थे ? उनके जैसे विश्व-गंगा के तैराक के लिए भला हमारी आज की इन छिछली राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक

समस्याओ एव स्वार्थपूरित हितो का मूल्य ही क्या हो सकता था ?

फिर भी मानो करुणार्द्र होकर, वह अपने उस अल्पकालिक जीवन म ही हमे अध्यात्म का पाठ पढाने के साथ-साथ समाज, राजनीति, धर्म, सस्कृति और साहित्य आदि सभी क्षेत्रो मे स्थायी रूप से एक महान् प्रेरणा का वरदान दे गए। वह हमे सूखे वेदान्त का पाठ पढाने के बजाय, विवेकानन्द की भाँति, अपने प्रत्येक रोग की एक दिव्य औषधि के रूप मे उस ब्रह्मविद्या का महा प्रयोग बता गए, जो युग-युग तक हमारी मुक्ति का अमोघ उपाय बनी रहेगी।

'मै ही भारत हूँ, मै ही शिव हूँ'

उन्होने हमे स्वदेश ही मे अपने आपको लीन कर, उसके साथ एकाकार हो जाने का महान् आदर्श ग्रहण करने के लिए आहूत किया और उस 'व्यावहारिक वेदान्त' का रास्ता दिखाया, जिसे कि स्वय अपना-कर मस्ती मे वह प्राय: कहा करते थे.—

"....... मै ही भारतवर्ष हूँ। मै ही हिन्दुस्थान हूँ। यह भारत-भूमि ही मेरा शरीर है। उसका वह कुमारी अतरीप ही मेरे चरणो का अतिम भाग है। उसका वह मुकुटरूप हिमाचल ही मेरा शीश है। मेरे इस शीश के जटाजूट मे से ही गगा की पुनीत धारा बह रही है। उसके शिरोभाग से ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु नद उच्छ्वसित हो रहे है। मेरी कमर के आसपास के कौपीन को विन्ध्याचल की वह विस्तृत मेखला बाँधे हुए है। मेरा एक पैर यदि कारोमडल तट है, तो दूसरा है मलाबार ! मै ही सारा का सारा भारत हूँ। उसकी पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ ही मेरी भुजाएँ है, जिन्हे फैलाकर समस्त मानव-जाति को अपने दृढालिगन मे कसने के लिए मै उत्कठित हूँ........!

"मेरा प्रेम विश्वव्यापी है। आह ! कैसा अद्भुत है मेरा यह शरीर ! वह अपलक अनन्त आकाश की ओर टकटकी बाँधे खडा है ! पर उससे भी अद्-भुत तो है उसमे बसनेवाली वह आत्मा, जो चरा-चर जगत् की आत्मा है। तभी तो जब मै चलता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि भारत ही चल रहा है ! जब मै बोलता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि भारत की ही वाणी गूँज रही है ! जब मै साँस लेता हूँ, तो मालूम देता है कि मानो स्वय भारतमाता ही साँस ले रही है ! मै ही भारत हूँ, मै ही शकर हूँ, मै ही शिव हूँ ! यही देशभक्ति की सबसे ऊँची भूमिका है और यही है व्यावहारिक वेदान्त !'

मातृभूमि के उद्धार के लिए आह्वान

और उसी स्वर में हमें प्रोत्साहित करते हुए उन्होने कहा—'भारतवासियो ! तुम अपनी दिव-गत आत्माओ को सुख पहुँचाने के लिए जिस तरह श्राद्ध करते हो, उसी तरह भारतमाता को स्वतत्र बनाने के लिए भी अपने स्वार्थों की बलि दो ! ...... तुम अपने आपको मातृभूमि और जाति के प्रेम मे सराबोर कर एकराग-एकतान कर दो। प्रति क्षण तुम्हे स्वदेश के साथ अपनी उस एकता का ही भान होना चाहिए। बल्कि तुम्हारे और स्वदेश के बीच अहभावमूलक सकुचित व्यक्तित्व का एक छायामात्र का काँच का-सा परदा भी शेष नही रहना चाहिए। तुम्हें तो एक सच्चे सैनिक की भाँति मातृभूमि के हितार्थ अपने व्यक्तिगत जीवन को एकदम न्यौछावर कर देना चाहिए। इस तरह अपने अहभाव को तजकर जब तुम अपने आपको राष्ट्र के साथ एकाकार कर दोगे, तब जो कुछ तुम सोचोगे वही राष्ट्र सोचेगा !'

इस प्रकार हमारे राष्ट्र-निर्माण के अनुष्ठान मे उन्होने वैसा ही महत्त्वपूर्ण योग दिया, जैसा कि उनके पूर्वगामी विवेकानन्द ने अभी-अभी दिया था। उन्होने भी वेदान्त की धर्मपताका फहराकर हमारे मन मे आत्मविश्वास का एक दृढ भाव जगा दिया। अपने ओजस्वी भाषणो द्वारा हमारी प्रसुप्त आत्मा मे जागृति का एक जादूभरा मत्र उन्होने फूँका। हमे अपनी जात-पाँतमूलक अधरूढिगत कुरीतियो की जजीरो को तोडने के लिए ललकारकर, समाज का सस्कार करने के लिए जोरो से उन्होने प्रेरित किया। और इन सबसे कही अधिक स्वय अपने ही जीवन मे त्याग का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर, हमे अपनी गुलामी की बेड़ियों का मोह छोड़ने के लिए साहस का एक फड़कता हुआ पाठ उन्होने पढाया। साराश यह कि वह न केवल इस युग के एक महान् सत, साधक और कविहृदय भक्त ही थे, प्रत्युत सच्चे अर्थ मे हमारे एक महान् शिक्षक और राष्ट्र-निर्माता भी थे। उनका तो केवल जीवन ही हमारे लिए एक चिरसदेशसूचक महापाठ था। जो देन वह छोड़ गए, उसका सपूर्ण मूल्य परखने के लिए अभी हमे अनेक युग चाहिएँगे !